अर्थशास्त्र का स्वरूप विवेचन

एक भूमि पर रहने वाले लोगों का समवेत वैधानिक रूप राष्ट्र के रूप में परिणत हो जाता है। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति स्वशासित हो, फिर भी कुछ ऐसे नियमों की आवश्यकता होती है जो व्यक्तियों का मार्ग निर्देशन कर सकें अथवा उनको उचित–अनुचित का निर्णय करा सकें। अतः अत्यन्त प्राचीनकाल से राष्ट्र के लिए नीति की आवश्यकता पर बल देते हुए उसके विभिन्न स्वरूपों का निर्धारण किया गया।

राजनीति से समस्त शास्त्रों तथा धर्मों की सुरक्षा का सुनिश्चित समाश्वासन है, इसलिए ज्ञान कर्म समुच्चयवादी आर्य चाणक्य अर्थात् कौटिल्य ने अपने राष्ट्र को राजनीति सिखाना ही अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बना लिया था। आचार्य चाणक्य की राजनीति का सारांश समाज को इस प्रकार सुशिक्षित करता है कि वह अपनी राजशक्ति को केवल उन लोगों के हाथों में रहने का सुनिश्चित प्रबन्ध करके रखें, जो अपने आप को समाजहित के सुदृढ़ स्तम्भ अनुभव करने में अपने को अहोभाग्य मानते हों।[1]

संस्कृत–साहित्य के कतिपय ग्रन्थकारों की कृतियों पर 'अर्थशास्त्र'का प्रभाव है, जिससे उसकी सार्वभौमिक मान्यता का पता चलता है। ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में विद्यमान महाकवि कालिदास से लेकर याज्ञवल्क्य, वात्स्यायन, विष्णु शर्मा, दण्डी विशाखदत्त, और बाण प्रभृति महाकवि स्मृतिकार, गद्यकार और नाटककारों की कृतियाँ 'अर्थशास्त्र' से प्रभावित हैं। वैसे भी स्वतन्त्र रूप में 'अर्थशास्त्र' का दाय लेकर अपनी कृतियाँ उस विषय पर संस्कृत में रची गयीं, किन्तु दूसरे विषय के जिन ग्रन्थों में कौटिलीय अर्थशास्त्र का महत्त्व एवं उसकी शैली का अनुकरण है, उनकी संख्या भी कम नहीं।

---

1. रामावतार/चाणक्यसूत्राणि/पृ०सं० 6

आचार्य कौटिल्य और उनका अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त के मन्त्री कौटिल्य की कृति है। कौटिल्य का पारिवारिक नाम विष्णुगुप्त था। इनके पिता का नाम चणक था इसी कारण इनका नाम चाणक्य पड़ गया था। तक्षशिला गुरुकुल के कुलपति ने विष्णुगुप्त को अर्थशास्त्र की गद्दी पर नियुक्त किया।[1] आचार्य विष्णुगुप्त बहुत तेजस्वी थे।[2]

पुराणों के ऐतिहासिक सन्दर्भ के आधार पर यह एक प्रामाणिक तथ्य है कि विष्णुगुप्त नामक एक अत्यन्त कुटिलमति एवं राजनीतिकुशल ब्राह्मण की सहायता से ही चन्द्रगुप्त मौर्य न केवल नन्दवंश का नाश करने में सफल हुआ था, अपितु अत्यन्त शक्तिशाली यवनसम्राट सिकन्दर के विश्वविजय के सपनों को भी चूर–चूर करने में सफल हुआ था।

कौटिल्य के नाम से विख्यात आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य विश्व के सभी राजनीतिज्ञों में अग्रगण्य हैं। इनका आविर्भाव भारतवर्ष में उस समय हुआ था, जिस समय मगध के राज्य सिंहासन पर ब्राह्मणविरोधी और अत्याचारी शासक महापद्मनन्द का अधिकार था, कुछ देशद्रोही भारतीय राजाओं की कृपा से सिकन्दर और उसके साथियों को भारत में प्रवेश करने का मार्ग मिल गया था, देश का वातावरण यहाँ की प्रजा के प्रतिकूल हो गया था। संस्कृति नष्ट होने लगी थी, फलस्वरूप राष्ट्र की रक्षा असम्भव लगने लगी थी। यदि उस समय आचार्य चाणक्य का आविर्भाव न हुआ होता, तो हमारा भारतवर्ष अवश्य ही विदेशियों के अधिकार में चला जाता; किन्तु ईश्वर की महती कृपा से देश को उस समय चाणक्य के रूप में एक ऐसे महापुरुष की प्राप्ति हुई जिसने भारत को विदेशी आक्रान्ताओं से बचाया।

उन्होंने देशद्रोहियों की दुर्णीति को समाप्त करके देश की आन्तरिक कलह से रक्षा की, उसे अत्याचारी शासक के शिकंजे से छुड़ाया, प्रजा को आश्वस्त किया, तथा हमारे धर्म–दर्शन और संस्कृति की सुरक्षा की।[3]

---

1. महेन्द्र कुमार शास्त्री/चाणक्य नीति/पृ0सं0 2
2. वहीं, पृ0सं0 3
3. डॉ०किरण टण्डन/संस्कृत सहित्य में राजनीति। पृ०स०–105

ग्रीक सेनापति सैल्यूकस के राजदूत मेगस्थनीज़ की एक अनुपलब्ध रचना में उपलब्ध उद्धरणों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य एक असाधारण दिग्विजयी सम्राट हुआ है एवं उसकी सफलताओं का श्रेयभागी कौटिल्य ही है।[1]

इस तथ्य का समर्थन अर्थशास्त्र के समाप्ति सूचक निम्नोक्त श्लोक से भी होता है –

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्।।[2]

अर्थात् जिस चाणक्य ने क्रोधावेश में आकर नन्द के अधिकार की भूमि का उद्धार किया तथा जिसे शस्त्र–विद्या में विलक्षण निपुणता प्राप्त थी, उसी विष्णुगुप्त ने अर्थशास्त्र की रचना की है।

आचार्य कौटिल्य का महान व्यक्तित्व एक अद्‌भुत पारंगत राजनीतिक के रूप में मौर्य–साम्राज्य के विपुल यश के साथ एक प्राण होकर एक ओर तो भारत के राजनीतिक इतिहास में अपनी कीर्ति–कथा को अमर बनाए हैं और दूसरी ओर अपनी अतुलनीय, अद्‌भुत कृति के कारण संस्कृत साहित्य के इतिहास में अपने विषय के आदि एवं अन्तिम विद्वान होने का गौरव प्राप्त कर रहे हैं। आचार्य कौटिल्य की इन असाधारण विशेषताओं के कारण ही पुराणों से लेकर काव्य, नाटक और कोश ग्रन्थों में सर्वत्र उनके नाम–माहात्म्य की कथाएँ उल्लिखित हैं।[3]

आचार्य चाणक्य के जीवन चरित्र का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि उनका कार्यक्षेत्र अध्ययन–अध्यापन था। जब उन्होंने भारत देश की दुर्दशा को देखा तो उनका राष्ट्रप्रेम जागरित हो उठा। उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र में देश की रक्षा–सुरक्षा के लिए राजमीति को भी सम्मिलित कर लिया। उन्होंने राजनीति में आकर कुछ उद्‌देश्य

1. डॉ0 रामचन्द्र वर्मा शास्त्री / कौटिलीय अर्थशास्त्र / पृ0सं0 07
2. कौटिलीय अर्थशास्त्र 15 / 1
3. वाचस्पति गैरोला / कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् / पृ0स0 63

अपने सामने रखे जैसे–विदेशी आक्रान्ताओं से देश को बचाना अत्याचारी और संस्कृति विरोधी को अपदस्थ करना, तथा उन्हें इन उद्देश्यों में प्रशंसनीय सफलता भी मिली।[1]

महापुरुष आचार्य चाणक्य ने भारतीय राजनीति को व्यावहारिक सहयोग देने के साथ–साथ सैद्धान्तिक सहयोग भी दिया। अधोलिखित ग्रन्थ उनके इस सहयोग का मूर्त्त प्रमाण है–

1. कौटिल्य अर्थशास्त्र
2. चाणक्य सूत्राणि
3. चाणक्यनीति दर्पण
4. लघु चाणक्य
5. वृद्ध चाणक्य

अर्थशास्त्र और उसकी परंपरा

अर्थशास्त्र का ध्येय विश्व कल्याण है। उसकी दृष्टि अन्तर्राष्ट्रीय है। उसमें मनुष्यों के अर्थ सम्बन्धी सब कार्यों का क्रमबद्ध अध्ययन किया गया है।[2]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की परिभाषा की है। मनुष्यों की वृत्ति को अर्थ कहते हैं। मनुष्यों से युक्त पृथ्वी या भूमि का ही नाम अर्थ है। पृथ्वी के लाभ एवं पालन के लिये, उपायों का विवेचन करने वाले, शास्त्र को अर्थशास्त्र कहते हैं। मानव के जीवन की वृत्ति अर्थ है।[3]

वाचस्पति गैरोला के अनुसार अर्थशास्त्र विषयक ग्रन्थों का निर्माण कल्पसूत्रों (600 ई0पू0) के बाद और विशेष रूप से बौधायन–धर्मसूत्र (500 ई0पू0) के बाद होना आरम्भ हो गया था। बौद्ध–धर्म के प्राण–सर्वस्व जातक–ग्रन्थों का रचनाकाल बुद्ध से

---

1. डॉ०किरण टण्डन / संस्कृत साहित्य में राजनीति / पृ०सं० 105
2. डा0 रघुनाथ सिंह / कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् / पृ0सं0 2
3. वही, पृ0सं0 3

पूर्व अर्थात् लगभग 600 ई0पू0 बैठता है। इन जातकों के अध्ययन से स्पष्ट है कि उस समय तक अर्थशास्त्र को एक प्रमुख विज्ञान के रूप में परिगणित किया जाने लगा था।[1]

डॉ0 काणे के अनुसार अर्थशास्त्र पर उपस्थित प्राचीनतम ग्रन्थ कौटिलीय ही है। अर्थशास्त्र एवं धर्मशास्त्र में आदर्श सम्बन्धी विभेद है, किन्तु वास्तव में, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र की एक शाखा है, क्योंकि धर्मशास्त्र में राजा के कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों की ही चर्चा होती है।

बहुत प्राचीन काल से ही चाणक्य उर्फ कौटिल्य या विष्णुगुप्त अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ के लेखक माने जाते रहे हैं।[2]

कौटिल्य दक्षिण का ब्राह्मण था और अर्थशास्त्र कौटिल्य की ही रचना है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अनेक दक्षिणात्य लेखकों ने किया है तथा अपने तर्क के समर्थन में जोर दिया है। अर्थशास्त्र की कोई पाण्डुलिपि उत्तर भारत में नहीं मिली है, अतएव यह दक्षिण भारत की रचना है।[3]

अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय और रूप

प्राचीनतम सुरक्षित ग्रन्थ के रूप में हम एक ऐसी कृति को पाते हैं जो अपने से पूर्ववर्ती एक लम्बे विकास को दिखाती है, परन्तु जिसने अपनी पूर्णता के कारण अपने से प्राचीनतर ग्रन्थों को अतिजीवित रहने की संभावना से वंचित कर दिया है। अर्थशास्त्र जिसका ज्ञान हमको 1909 में हुआ था, निस्सन्देह संस्कृत के सबसे अधिक आकर्षक ग्रन्थों में से एक है।[4]

कौटिल्य के अनुसार मनुष्यों की वृत्ति (अर्थात् आजीविका) तथा मनुष्यों से परिपूर्ण भूमि का नाम अर्थ है और इस अर्थ (वृत्ति तथा भूमि) की प्राप्ति व उसके संरक्षण

---

1. वाचस्पति गैरोला / कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् / पृ0 सं0 71
2. डॉ काणे / धर्मशास्त्र का इतिहास / पृ0सं0 28
3. रघुनाथ सिंह / कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् / पृ0सं0 10
4. ए0बी0कीथ / संस्कृत साहित्य का इतिहास / पृ0सं0 571

के उपायों के निरूपक शास्त्र का नाम अर्थशास्त्र है।[1]

'कौटिलीय अर्थशास्त्र' 15 अधिकरणों तथा 180 प्रकरणों में विभक्त एक महाग्रन्थ है। अधिकरण का अर्थ है–अधिकारपूर्वक कहा गया वचन। उदाहरणार्थ, ग्रन्थ के आरम्भ में सर्वप्रथम सम्पूर्ण पृथ्वी को प्राप्त करने तथा उसके पालन करने की बात कही गयी है,[2] तदुपरांत सम्पूर्ण शास्त्र को एक अधिकरण कह दिया गया है। इसी सन्दर्भ में अपने–अपने अर्थों के अधिकार पूर्वक निरूपक प्रसंगों को विनयाधिकारिक तथा अध्यक्षप्रचाराधिकारिक आदि नाम दिये गये हैं।[3] कौटिल्य अर्थशास्त्र के टीकाकार रघुनाथ सिंह के अनुसार जैन ग्रन्थों में अधिकरण तथा अधिकरण सिद्धान्त पर प्रचुर सामग्री प्राप्त है। मुख्य विकास जीवाधिकरण तथा आजीवाधिकरण है। जिस वस्तु में जो धर्म रहता है, उन धर्मों को, उस धर्म का अधिकरण कहते हैं। घटत्व धर्म का अधिकरण घट में है। अंग्रेजी के सभी अनुवादकों ने अधिकरण का अनुवाद बुक शब्द से किया है। बौद्ध मान्यता के अनुसार अधिकरण का अर्थ निवास स्थान सम्बन्धी विवाद से है। अधिकरण का अर्थ राजतरांगिणीकारों के 'तरंग' शब्द में आ जाता है। मीमांसा तथा वेदान्त के अनुसार अधिकरण वह प्रकरण है, जिसमें किसी सिद्धान्त का विवेचन किया जाता है।[4]

अर्थशास्त्र पन्द्रह अधिकरणों एवं 180 प्रकरणों में विभक्त है, परन्तु यह विभाग अध्यायों के विभाग से व्यव्यस्त हो जाता है। गद्यात्मक ग्रन्थ में व्याख्या किये गये सिद्धान्त को संग्रह करने वाले पद्यों के दिये जाने से अध्यायों का विभाग लक्षित हो जाता है।

---

1. मनुष्याणां वृत्तिरर्थ : मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः,
   तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति।। कौ0 15/1
2. डॉ. रामचन्द्र वर्मा शास्त्री/कौटिलीय अर्थशास्त्र/पृ0सं0 13
3. वही, पृ0सं0 826
4. रघुनाथ सिंह/कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्/ पृ0सं0 4

अधिकरणों का विवरण –

कौटिल्य अर्थशास्त्र में विनयाधिकारिक, अध्यक्ष प्रचार, धर्मस्थायी, कंटकशोधन, योगवृत, मण्डलयोनि, षाड्गुण्य, व्यसनाधिकारिक, अभियास्यत्कर्म, सांग्रामिक, संघवृत्त, आवलीयस, दुर्गलम्भोपाय, औपनिषदिक, तन्त्रयुक्ति आदि पन्द्रह अधिकरण हैं।

विभिन्न अधिकरणों में वर्णित विषयों को इस अध्याय में वर्णित किया जायेगा–

प्रथम अधिकरण–विनयाधिकारिक

कौटिल्य अर्थशास्त्र के टीकाकार रघुनाथ सिंह के अनुसार विनय का अर्थ निर्देश, अनुशासन, अनुदेश औचित्य, सुशीलता, सदाचरण, आदि होता है। हितोपदेश में उल्लेख है कि विद्या से सर्वप्रथम विनय होता है। विनय से सत्पात्रता मिलती है। पात्रता से धन मिलता है तथा धन से सुख मिलता है।[1]

इस अधिकरण में राजकुमार के विनय और शिक्षण का निरूपण किया गया है। कौटिल्य के अनुसार चार विद्यायें बतायी गयी हैं, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति।[2] अथर्ववेद में ज्ञान के अर्थ में विद्या का उल्लेख किया गया है।[3] मनु के अनुसार पाँच विद्या मानी जाती है। मनु ने आत्म विद्या को भी जोड़ दिया है।[4]

श्रीकृष्ण के मतानुसार राजा को चार विद्याएँ अवश्य जाननी चाहिए–आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति। उन्होंने गोपों के समक्ष इन चारों का नामोल्लेख करके वार्ता पर विशेष प्रकाश डाला है।[5]

---

1. वहीं, पृ0सं0 3
2. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः कौ01/1
3. अथर्ववेद : 6/116/1
4. मनुस्मृति : 7/43
5. आन्वीक्षिकी त्रयी वर्ता दण्डनीतिस्तथापरा।
   विद्या चतुष्टयं चैतद्वार्त्तामात्रं शृणुष्व मे।।
   कृर्षिर्वणिज्या तद्वच्च तृतीयं पशुपालनम्।
   विद्या ह्येका महाभाग वार्ता वृत्तित्रयाश्रया।।
   विष्णुपुराण–5/10/27–28

चारों विद्याओं का परिचय देने के उपरान्त आन्वीक्षकी की महत्ता व विशिष्टता का प्रतिपादन करते हुए डॉ0 रामचन्द्र वर्मा शास्त्री कहते हैं कि आन्वीक्षकी विद्या ही व्यक्ति तथा समष्टि, अर्थात् राजा एवं राजपुरूषों के उत्थान–पतन में, सुख–दुःख में तथा लाभ हानि में उनकी बुद्धि को सन्तुलित व स्थित बनाये रखती है। उनके हर्ष–शोक को संयत और नियन्त्रित करती है। आन्वीक्षिकी विद्या ही राजपुरूषों को अवसर के अनुरूप सोचने–विचारने की तथा समयानुसार उपयुक्त रूप से बोलने एवं व्यवहार करने की क्षमता प्रदान करती है।[1]

आन्वीक्षिकी विद्या के विषय में कौटिल्य ने कहा है–

प्रदीपःसर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षकी मता।।[2]

आन्वीक्षिकी सदैव से समस्त विद्याओं को प्रदीप, समस्त कर्मों का उपाय तथा सभी धर्मो का आश्रय मानी गयी है।

अर्थात् आन्वीक्षिकी सभी विद्याओं को प्रकाशित करने वाली है, सभी कार्यों का साधन होने से उन्हें सिद्ध करने वाली तथा सभी धर्मों का आश्रय होने से व्यक्ति का हित करने वाली है।

कौटिल्य के अनुसार –

विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः, कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः।[3]

काम, क्रोध, लोभ, मान, मद एवं हर्ष का परित्याग कर, विद्या विनय का हेतु इन्द्रियजय प्राप्त करनी चाहिए। विद्यावान् व चरित्रवान् होने का अर्थ है – जितेन्द्रिय होना। जितेन्द्रियता से अभिप्राय है –काम, क्रोध, लोभ, अहंकार मद एवं हर्ष जैसे दुर्गुणों

1. डॉ०रामचन्द्र वर्मा शास्त्री/कौटिल्य अर्थशास्त्र/ पृ० सं० 33
2. कौ० 1/1
3. वहीं 1/5

पर विजय अथवा उनका परित्याग। इस परित्याग का उपाय है –पांच ज्ञानेन्द्रियों–कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा व नासिका–को उनके विषयों–श्रवण, स्पर्श, दर्शन, संवाद, सूंघना–में प्राप्त न होने देना। जब व्यक्ति ज्ञानेन्द्रियों को उनके विषयों से निवृत्त कर लेगा, अर्थात् व्यक्ति की विषय में आसक्ति ही नहीं होगी, तो फिर काम क्रोधादि अपने को स्थिर ही नहीं रख पायेंगे। जब व्यक्ति काम–क्रोधादि का परित्याग करने में समर्थ हो जायेगा, तब ही वह सही अर्थो में विद्वान् व आचारवान् कहलायेगा।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा को कामादि दोषों को अपना भयंकर शत्रु मानकर उनका परित्याग करने व अपनी इन्द्रियों को वश में करने के वर्णन के बाद राजा के मन्त्रियों का तथा उसकी परिषद् का वर्णन दिया गया है।

महाभारत के अनुसार कहा गया है–

राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं प्रजाश्च राज्ञोदप्रतिमं शरीरम्।
राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति।।[1]

राजा और प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करते हुए महाभारत में कहा गया है के राजा प्रजा का प्रथम शरीर है और प्रजा राजा का अनुपम शरीर है। राजा के बिना देश नहीं रह सकता है और देश के बिना राजा नहीं रह सकता है।

राज्य का सर्वोपरि शासक राजा होता है। राज्य में शान्ति व्यवस्था बनाना तथा बाह्य आक्रमणों से रक्षा करना राजा का मुख्य कर्त्तव्य होता था।

राजा सहपाठियों को अमात्य नियुक्त करे, अमात्य को मंत्री भी कहते हैं, परन्तु कौटिल्य ने अमात्य और मंत्री में भेद किया है तथा मंत्री का स्तर अमात्य से ऊपर रखा है। सामर्थ्य के अनुरूप अमात्य अधिकारी को देश काल एवं कर्म के अनुसार विभक्त कर इन सब लोगों को अमात्य नियुक्त करना चाहिए किंतु मंत्री नहीं।[2]

---

1. महाभारत/शान्ति पर्व /68
2. विभज्यामात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।
   अमात्याःसर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मन्त्रिणः।। कौ0 1/7

अर्थात् चाणक्य ने अमात्यों की अपेक्षा मन्त्रियों को वरीयता इसलिए प्रदान की है क्योंकि मन्त्री राजनीति के प्रवर्तक एवं संवाहक होते हैं। सचिवों या अमात्यों का कार्य तो मन्त्रियों को उनके कार्य में सहायता देना तथा उनके द्वारा निर्धारित नीति को कार्यरूप में परिणत करना है।

यज्ञ कार्य के लिए राजा को एक पुरोहित रखना अनिवार्य था।

कौटिल्य के अनुसार –

तमाचार्य शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्तेत।[1]

जिस प्रकार शिष्य आचार्य का पुत्र पिता का तथा सेवक स्वामी का अनुगमन करता है, उसी प्रकार राजा को पुरोहित का अनुगमन करना चाहिए।

राजा गुप्तचरों को भी नियुक्त करे कापटिक, उदास्थित, ग्रहपतिक, वैदेहक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी आदि अनेक प्रकार के गुप्तचर होते हैं।[2]

गुप्तचर जो राज्य के अन्दर अपने ही घर के उन राजकुमारों से लेकर जो उसकी मृत्यु चाहते हैं, सब बड़ों और छोटों के ऊपर राजा के अधिकार के रखने में उसकी सेवा करते हैं (जो राजा के संबंधी न हो किन्तु जिनका पालन–पोषण राजा के लिए आवश्यक हो जो सामुद्रिक, विद्या, ज्योतिष, आदि शुभाशुभ फल बताने वाली विद्या वशीकरण इन्द्रजाल, धर्मशास्त्र, शकुनशास्त्र कामशास्त्र तथा तत्संबंधी नाचने–गाने की कला में निपुण हों वे सत्री कहलाते है।)[3] जो गुप्तचर एक ही स्थान पर रहकर कार्य करता हो वह संस्था कहलाते हैं तथा जो घूम–घूम कर कार्य करते हैं वह संचार कहलाते है।[4]

---

1. कौ० 1/8
2. वही० 1/10
3. वही० 1/11
4. वही० 1/11

कौटिल्य के अनुसार –

एवं स्वविषये कृत्यानकृत्यांश्च विचक्षणः।
परोपजापात्संरक्षेतप्रधानान्क्षुद्रकानपि।।[1]

बुद्धिमान राजा को अपने राज्य के छोटे–बड़े कृत्य–अकृत्य लोगों को किसी भी प्रकार शत्रु के पक्ष में जाने से रोकना चाहिए।

मंत्रिपरिषद् के सम्बन्ध में कौटिल्य अर्थशास्त्र में कहा है कि मंत्रिपरिषद में बारह अमात्यों की नियुक्ति की जानी चाहिए। बृहस्पति के अनुयायी विद्वान सोलह मंत्रियों के पक्ष में हैं शुक्राचार्य मंत्रियों की संख्या बीस रखते हैं[2] तथा कौटिल्य के अनुसार

यथा सामर्थ्यमिति कौटिल्यः[3]

अर्थात् कौटिल्य का कहना है के सामर्थ्य के अनुसार ही उनकी संख्या नियत होनी चाहिए। गुप्त मंत्रणा के निश्चित हो जाने पर दूत को शत्रु देश की ओर भेजना चाहिए।

मनु के अनुसार –

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्।।[4]

सब शास्त्रों का विद्वान्, इङ्गित आकार और चेष्टा को जानने वाले, शुद्ध हृदय चतुर तथा कुलीन दूत को नियुक्त करे।

कौटिल्य के अनुसार दूत के तीन प्रकार होते है –निसृष्टार्थ, परिमितार्थ, शासनहर।[5]

---

1. वही0 1/12
2. वही0 1/14
3. वही0 1/14
4. मनु0 7/63
5. कौ0 1/15

अग्नि पुराण के अनुसार भी दूत के तीन प्रकार हैं –

निष्टार्थ, नितार्थ, शासनहारक।[1]

श्रीकृष्ण ने दूतों के दो भेद बताये है–आभ्यन्तर तथा बाह्य। आभ्यन्तर से अवश्य ही उनका अभिप्राय गुप्तचर से है और बाह्य से उनका अभिप्राय दूत से है। गुप्तचर वह हैं जो देश–विदेश की परिस्थितियों की जानकारी गुप्तरूप से प्राप्त करता है एवं दूत वह है जो सन्देश लाता, ले जाता है।[2]

अग्नि पुराणकार के अनुसार दूत का प्रथम–कार्य शिष्टाचार है कि वह परराष्ट्र में वहाँ के राजा की बिना अनुमति के प्रवेश न करे और परराष्ट्र में पहुँच कर भी राजसभा में बिना पूर्वानुमति के प्रवेश न करे। इसके लिए भले ही उसे कुछ समय तक प्रतीक्षा क्यों न करनी पड़े।[3] शत्रुराष्ट्र में रहते हुए उसे शत्रु के सभी छिद्रों उसके कोश, मित्र, सेना तथा राजा की दृष्टि और शारीरिक चेष्टाओं से अपने प्रति रागपराग की जानकारी कर लेनी चाहिए। उसे शत्रुराजा के समक्ष दोनो ही पक्षों की कुल, नाम, धन और कर्म विषयक चतुर्विध प्रशंसा करनी चाहिए। परराष्ट्र' में उसे तपस्वियों जैसा आचरण करने वाले गुप्तचरों के साथ रहना चाहिए।[4]

कौटिल्य के अनुसार –

स्वदूतैः कारयेदेतत् परदूतांश्च रक्षयेत्।
प्रतिदूतापसर्पाभ्यां दृश्यादश्यैश्च रक्षिभिः।।[5]

अर्थात् राजा को चाहिए कि वह सभी कार्य दूत के द्वारा करवाये तथा शत्रुओं के पीछे अपने दूतों या गुप्तचरों को लगाये रखे। अपने देश में वह शत्रुदूतों के कार्यो

1. अग्निपुराण 239/648
2. डॉ० किरण टण्डन/ संस्कृत साहित्य में राजनीति/पृ०सं० 212
3. नाविज्ञातं पुरं शत्रोः प्रविशेच्च न संसदम्।
कालमीक्षेत कार्यार्थमनुज्ञातश्च निष्पतेत्।।
अग्नि० 241/9
4. वहीं० 241/10–11
5. कौ० 1/15

का पता प्रकट रूप से लगायें किन्तु शत्रुदेश में उनकी सूचनायें गुप्त रूप से संग्रह करायें।

अग्नि पुराण में भी यही कहा गया है कि प्रकट रूप से रहने वाले चर को दूत कहते है तथा अप्रकट रूप से भ्रमण करने वाले दूत को गुप्तचर कहते हैं। गुप्तचरों को व्यापारी, कृषक, संन्यासी, और भिक्षुक आदि के रूप में रहना चाहिए।[1]

सभी भाई मिलकर राज्य को सँभाले, क्योंकि यदि राज्य का संचालन सामुदायिक ढंग से हुआ तो निश्चित ही वह राज्य दुर्जय होता है। सामुदायिक राज्य–व्यवस्था से एक बड़ा लाभ यह भी है कि एक व्यक्ति के व्यसनग्रस्त हो जाने पर दूसरे व्यक्ति उसके कार्य को संभाल लेते हैं और इस प्रकार् सदैव प्रजा की सुखमय अवस्था पृथ्वी पर बनी रहती है।[2]

इसके बाद में राजा को दिन और रात के किस प्रहर में क्या करना चाहिए इसका वर्णन भी किया है।[3]

कौटिल्य के अनुसार –

प्रजा के सुख में राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का हित है। अपने आप को अच्छा लगने वाले कार्यों को करने में राजा का हित नहीं बल्कि उसका हित तो प्रजाजनों को अच्छे लगने वाले कार्यों के संपादन करने में है।[4]

ऐसे स्थान पर अन्तःपुर का निर्माण हो जिसके चारों ओर परकोटा एवं खाई और जिसमें अनेक डयोढ़ियाँ हो।[5]

---

1. अग्नि पुराण 241/12
2. कुलस्य वा भवेद्राज्यं कुलसङ्घो ही दुर्जयः।
   अराजव्यसनाबाधः शश्वदावसति क्षितिम्।। कौ0 1/16
3. कौ0 1/18
4. प्रजासुखे सुखं राज्ञःप्रजानां च हिते हितम्।
   नात्मप्रिय हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्। कौ० 1/18
5. कौ0 1/19

कौटिल्य के अनुसार –

यथा च योगपुरूषैरन्यान्राजऽधितिष्ठति।
तथाऽयमन्यबाधेम्यो रक्षेदात्मानमात्मवान्।।[1]

विजय की इच्छा रखने वाला राजा जैसे अपने गुप्तचरों द्वारा दूसरों को कष्ट पहुंचाता है, उसी प्रकार दूसरों के द्वारा दिये गये कष्टों से भी वह अपनी रक्षा करे।

द्वितीय अधिकरण– अध्यक्ष प्रचार

इस अधिकरण में निरीक्षकों के एक विशाल समूह के कर्त्तव्य विस्तार के साथ दिये गये हैं। जनपद की स्थापना किस प्रकार की जानी चाहिए, इस संबन्ध में कौटिल्य ने विस्तार से प्रकाश डाला है। अर्थशास्त्र के टीकाकार रघुनाथ सिंह के अनुसार– जनपद अर्थात् पृथ्वी का वह भाग जहाँ चारों वर्णों के लोग रहते हैं। जनपद एक निश्चित क्षेत्र की संज्ञा है। राज्य की सात प्रकृतियों में तृतीय प्रकृति जनपद है। मनुष्य वही आबाद होता है, जहाँ भूमि रहने योग्य होती है। समुद्र या पर्वत पर जनपद नहीं बन सकता।[2]

मध्य में और सीमान्तों में किलों से युक्त, यथेष्ट अन्न वाले, विपत्ति के समय रक्षा साधनों से सम्पन्न, शत्रुओं के विरोधियों से सम्पन्न, नदी तालाबों से सुशोभित, श्वेत, खान, लकड़ी तथा हाथियों के जंगलों से युक्त, गायों के लिए हितकर, सुखद जलवायु वाला, गाय, भैंस, नहर आदि से सम्पन्न, बहुमूल्य वस्तुओं के विक्रय वाला, दण्ड तथा कर को सहन करने वाले नागरिको से युक्त परिश्रमी कृषकों से सम्पन्न, बुद्धियुक्त स्वामी वाली, निम्न वर्ग के आधिक्य से युक्त, प्रेमी और पवित्र मनुष्यों वाला जनपद श्रेष्ठ जनपद होता है।[3]

कौटिल्य के अनुसार–

भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्द वमनेन वा निवेशयेत्।[4]

---

1. वही0 1/21
2. रघुनाथ सिंह/कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्/ पृ0सं0 209
3. डॉ० किरण टण्डन/संस्कृत साहित्य में राजनीति/पृ०सं० 122
4. कौ0 2/1

राजा को चाहिए कि दूसरे देश के मनुष्य को बुलाकर अथवा अपनी देश की आबादी को बढ़ाकर वह पुराने या नये जनपद को बसाए।

प्रत्येक जनपद में कम से कम सौ घर और अधिक से अधिक पाँच सौ घर वाले ऐसे गाँव बसाये जायें जिसमें प्रायः शूद्र तथा किसान अधिक हों। राज्य की सीमा पर अंतपाल नामक दुर्गरक्षक के संरक्षण में एक दुर्ग की भी स्थापना करें जनपद की सीमा पर अंतपाल की अध्यक्षता में ही द्वारभूत स्थानों का भी निर्माण करें।[1]

याज्ञवल्क्य के अनुसार दुर्ग की स्थिति से राजा की सुरक्षा, प्रजा एवं कोष की रक्षा होती है।[2]

पञ्चतन्त्र में राजनीति प्रकाश द्वारा उद्धृत बृहस्पति में आया है कि अपनी, अपनी रानियों, प्रजा एवं एकत्र की हुई सम्पत्ति की रक्षा के लिए राजा को दीवारों एवं द्वार से युक्त दुर्ग का निर्माण करना चाहिए।[3]

कौटिल्य के अनुसार चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है औदक, पार्वत, धान्वन, वन–दुर्ग। प्रथम दो के दुर्गजन–संकुल स्थानों की सुरक्षा के लिए है और अन्तिम दो प्रकार जंगलों की रक्षा के लिए है।[4] वायु पुराण के अनुसार दुर्ग चार प्रकार के होते है।[5]

मनु के अनुसार छःप्रकार के दुर्ग बताऐ गये है–

धन्वदुर्ग महीदुर्गमव्दुर्ग वार्क्षमेव वा।
नृदुर्ग गिरिदुर्ग वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्।।[6]

---

1. वहीं० 2/1
2. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/321
3. पञ्चतन्त्र 1/229
4. कौ0 2/3
5. वायुपुराण 8/108
6. मनु0 7/70

धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, मनुष्य दुर्ग अथवा गिरिदुर्ग का आश्रय कर नगर (राजधानी) में निवास करे। मत्स्य पुराण, अग्निपुराण, तथा शुक्रनीतिसार के अनुसार भी दुर्ग के छःप्रकार बताये गये हैं।[1]

वास्तु विद्याविशेषज्ञों के निर्देशानुसार जिस भूमि को नगर–निर्माण के लिए चुना जाये उसमें पूरब से पश्चिम की ओर उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले तीन–तीन राजमार्ग हों। इन छह राजमार्गों में नगर–निर्माण या गृह निर्माण की भूमि का विभाग करना चाहिए। चारों दिशाओं में कुल मिलाकर बारह द्वार हों, जिसमें जल, थल तथा गुप्त मार्ग बने हों।[2]

सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) को चाहिए कि वह कोषगृह, पण्यगृह (राजकीय विक्रेय वस्तुओं का स्थान। कोष्ठागार (भाण्डारग्रह) कुप्यग्रह (अन्नागार) शस्त्रागार और कारागार का निर्माण करवाये।[3]

कौटिल्य का कहना है कि जिस राजा का कोष रिक्त हो जाता है वह नगरवासियों एवं ग्रामवासियों को चूसने लगता है।[4] कौटिल्य के अनुसार राज्य के सारे व्यापार कोष पर निर्भर रहते हैं, इसलिए राजा को सर्वप्रथम कोष पर ध्यान देना चाहिए[5] धर्मशास्त्र के इतिहास के अनुसार कोष भरने का प्रमुख साधन है कर–ग्रहण।[6]

कौटिल्य के अनुसार –

ब्राहामाभ्यन्तरं चायं विद्याद्वर्षशतादपि।
यथा पृष्टो न सज्येतं व्ययशेषं च दर्शयेत्।।[7]

---

1. (क) मत्स्यपुराण0 217/6–7
   (ख) अग्नि0 222/4–5
   (ग) शुक्रनीतिसार 4/6
2. कौ0 2/3
3. वही0 2/5
4. वहीं० 2/5
5. वही0 2/8
6. डॉ0 काँणे/धर्मशास्त्र का इतिहास/पृ0सं0 667
7. कौ0 2/5

कोषाध्यक्ष को चाहिए कि वह जनपद तथा नगर से होने वाली आय को अच्छी तरह से जाने इस सम्बन्ध में उसे इतनी जानकारी होनी चाहिए कि यदि उससे सौ वर्ष पीछे की आय का लेखा–जोखा पूछा जाये तो वह तत्काल ही उसकी समुचित जानकारी दे सकें। बचे हुए धन को वह सदा कोष में दिखाता रहे।

समाहर्त्ता को चाहिए कि वह दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, ब्रज, व्यापार सम्बन्धी कार्यो का निरीक्षण करे।[1] आय–व्यय का निरीक्षक, अक्षपटल का निर्माण कराये, उसका दरवाजा पूरब या उत्तर दिशा की ओर होना चाहिए। उसमें लेखकों के बैठने के लिए कक्ष और आय–व्यय की निबन्ध पुस्तकों को रखने के लिए नियमित व्यवस्था होनी चाहिए।[2] सारे कार्य कोष पर निर्भर हैं। इसलिए राजा को चाहिए कि सर्वप्रथम कोष पर ध्यान दे।[3] राजकीय उच्चपदस्थ कर्मचारियों को अमात्य के गुणों से युक्त होना चाहिए। योग्यता एवं कार्यक्षमता के आधार पर ही उन्हें भिन्न–भिन्न पदों पर नियुक्त किया जाना चाहिए।[4]

राजा की ओर से पत्र आदि पर लिखित आज्ञा या प्रतिज्ञा का नाम 'शासन' है। राजा लोग शासन (लिखित बात) पर ही विश्वास करते है, मौखिक बात पर नहीं। संधि, विग्रह आदि षाड्गुण्य संबंधी राजकीय कार्य शासनमूलक होने पर ही ठीक समझे जाते हैं।[5] कोषाध्यक्ष को चाहिए कि वह विशेषज्ञों की सहमति से ही रत्न, सार, फल्गु और कुप्य आदि मूल्यवान् द्रव्यों को राजकोष के लिए लेना स्वीकार करे।[6] आकर (खान) के अध्यक्ष को चाहिए कि वह शुल्बशास्त्र, धातुशास्त्र रसायन, पाकविध, और मणिराग आदि के विषयों में निपुणता प्राप्त करे[7] तथा सुवर्णाध्यक्ष को चाहिए कि वह सोने–चाँदी के प्रत्येक कार्य को करने के लिए एक अक्षशाला का निर्माण करायें।[8]

---

1. समाहर्तादुर्गराष्ट्रंखनि सेतुं वनं वज्रं वणिक्पथं चावेक्षेत। कौ02/6
2. कौ0 2/7
3. कोषपूर्वाः सर्वारम्भाः। तस्मात् पूर्व कोषमवेक्षेत्। कौ0 2/8
4. कौ0 2/9
5. वही0 2/10
6. वही0 2/11
7. वही0 2/12
8. वही0 2/13

सौवर्णिक (राज्य का प्रधान आभूषण व्यापारी) को चाहिए कि नगरवासियों और जनपदवासियों के सोने–चाँदी के आभूषणों का कार्य शिल्पशाला में बैठकर काम करने वाले सुनारों द्वारा कराये।[1]

उक्त अधिकरण में कोष्ठागार, पण्याध्यक्ष, कुप्यअध्यक्ष, आयुधागाराध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, सीताध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, नौकाध्यक्ष, गौऽध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, स्थाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष आदि के कार्यों का वर्णन किया गया है।

तृतीय अधिकरण– धर्मस्थीय

कौटिल्य ने न्यायाधीशों के कर्त्तव्य तथा संपूर्ण विधि या कानून का वर्णन इस अधिकरण में किया है।

कौटिल्य के अनुसार तीन–तीन धर्मस्थ अमात्य (या तीन धर्मस्थ और तीन अमात्य) जनपदसन्धि, संग्रहण, द्रोणमुख एवं स्थानीय स्थलों पर व्यवहार सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करें।[2]

मनु के अनुसार व्यवहार शब्द का अर्थ है मुकदमा या विवाद[3], याज्ञवल्क्य के अनुसार भी यही अर्थ कहा गया है[4] तथा महाभारत के अनुसार इसका अर्थ लेन–देन है।[5]

कौटिल्य अर्थशास्त्र के टीकाकरण रघुनाथ सिंह के अनुसार कौटिल्य व्यवहार का प्रारम्भ विवाह से मानता है। विवाह कौटुम्बिक जीवन की आधारशिला है। विवाह से ही स्त्रीधन तथा उसके कारण ही दाय भाग का आरम्भ होता है। हिन्दू विवाह धार्मिक

1. वही0 2/14
2. वही0 3/1
3. मनु0 8/1
4. याज्ञ0 2/1
5. महाभारत/उद्योग पर्व0 /37,30

संसार है। यह पवित्र सम्बन्ध हैं। धार्मिक कृत्य के लिए किया जाता है। विवाह उस विधि को कहते हैं जिसमें कोई नारी नर की पत्नी बनती है।[1] हिन्दू संस्कृति में विवाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गार्हस्थ जीवन का प्रारम्भ इसी से माना गया है। कौटिल्य के अनुसार विवाह आठ प्रकार के होते हैं।[2] मनु के अनुसार भी आठ प्रकार के विवाह होते हैं।[3] ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस, एवं पैशाच आदि विवाहों का इस अधिकरण में वर्णन करने के पश्चात् कौटिल्य ने स्त्री धन के विषय में वर्णन किया है–

वृत्तिराबन्ध्यं वा स्त्रीधनम्। परद्विसाहस्त्रा स्थाप्या वृत्तिः। आबन्ध्यानियम :।[4]

स्त्री का धन दो प्रकार का होता है। वृत्ति तथा आवध्य। स्त्री का वृत्ति धन वह है जो स्त्री के नाम से जमा किया गया हो। उसकी रकम कम से कम दो हज़ार तक होनी चाहिए। गहना या ज़ेवर आदि आवध्य धन कहलाते हैं जिनकी अधिकता का कोई नियम नहीं है। मनु ने छःप्रकार के स्त्रीधन माने है।[5]

कौटिल्य के अनुसार पति के मर जाने पर स्त्री यदि अपने धर्म–कर्म पर रहना चाहती हो तो उसे अपने दोनो प्रकार के निजि धन तथा प्रीति धन ले लेना चाहिए।[6]

अपने पति की सम्पत्ति के अधिकारी पुरुषों को छोड़कर यदि कोई स्त्री किसी दूसरे पुरुष के साथ विवाह करे तो विवाह करने वाला पुरुष, वह स्त्री, स्त्री को देने वाला, उस विवाह में शामिल होने वाले ये सभी लोग, स्त्री को बहकाने या अनुचित ढंग से उसको अपने वश में करने के अपराधी समझे जायें और उनको यथोचित दण्ड दिया जाये।[7]

---

1. रघुनाथ सिंह/कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्/पृ0सं0 576
2. कौ0 3/2
3. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्ष प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
   गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः। मनु03/21
4. कौ0 3/2
5. मनु0 9/194
6. कौ0 3/4
7. एतानुत्क्रम्य दायादान् वेदने जातकर्मणि।
   जारस्त्रीदातृवेत्तारः सम्प्राप्ताःसङग्रहात्ययम्।। कौ0 3/4

दाय का अर्थ है पिता की सम्पत्ति का पुत्रों में बंटवारा या विभाजन। भारत में दायभाग एवं मिताक्षरा दो सम्प्रदाय प्रचलित हैं।[1] दायभाग के अनुसार पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का स्वामित्व उसके पिता के साथ सम्बन्ध होने के कारण है और सम्बन्ध जन्म से उत्पन्न होता है तथा मिताक्षरा के अनुसार दाय वह सम्पत्ति है जिस पर उसके स्वामी के साथ संबंध मात्र से ही संबंधित व्यक्ति का स्वामित्व स्थापित हो जाता है। माता–पिता के या केवल पिता के जीवित रहते पुत्र सम्पत्ति के अधिकारी नही होते। दोनो के न रहने पर ही पुत्र आपस में पैतृक सम्पत्ति का विभाजन कर सकते हैं।[2] कौटिल्य ने 12 प्रकार के पुत्रों का वर्णन किया है तथा सभी की उत्तराधिकार विषयक स्थिति का वर्णन किया है।[3] कौटिल्य ने इस अधिकरण में स्त्रियों के पैतृक अधिकार, विभिन्न पुत्रों में सम्पत्ति का विभाजन तथा संयुक्त परिवार में रहने वाले पौत्र पौत्रों आदि के उत्तराधिकार का वर्णन किया है तथा कुछ लोगों को सम्पत्ति से अलग कर दिया जाता है इस बारे में भी बताया है।

कौटिल्य के अनुसार–

गांव के प्रधानों को गृहसम्पत्ति से सम्बन्धित सभी प्रकार के विवादों में अपना निर्णय देते हुए उन्हें सुलझाने में सहयोग करना चाहिए।[4]

किसी व्यक्ति के पास कोई वस्तु रखना उपनिधि[5] कहा जाता है[6] अर्थात् उपनिधि उस धरोहर को कहते हैं जो बिना दिखाये, बिना ज्ञात कराये कि किस गुण तथा मात्रा के समान है सील मुहर कर धरोहर रख दिया जाता है। ऋण लेने व चुकता करने के तथा धरोहर रखने–लौटाने के सभी नियमों का वर्णन किया गया है। सेवक

---

1. डॉ0 रघुनाथ सिंह/कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम। पृ0सं0 610
2. कौ0 3/5
3. डॉ0 रघुनाथ सिंह/ कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्/ पृ0सं0 624
4. कौ0 3/8
5. उपनिधि–धरोहर, न्यास, निक्षेप, जमा किया हुआ धन, डॉ0 रघुनाथ सिंह/कौटिलीयम् अर्थशास्त्र पृ0सं0 676
6. आधिसोमोपनिक्षेपजडबालधनैर्विना।
   तथोपनिधिराजस्त्रीश्रोत्तियाणां धनैरपि।।याज्ञ02/25

और श्रमिक रखने के नियम तथा वेतन लेकर कार्य न करने वाले और अकारण ही कामचोर सेवक को कितने पण का दण्ड देना चाहिए आदि को बताया गया है।

कौटिल्य के अनुसार –

साहसमन्वय वत्प्रसभकर्म।[1]
किसी का द्रव्यादि बलपूर्वक अपहृत करना साहस है।
निरन्वये स्तेयम्पव्ययने च।[2]
अनुपस्थिति में ग्रहण करना और गृहीत का अपव्यय करना स्तेय है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार साहस का अर्थ होगा सामान्य वस्तु का बलपूर्वक अपहरण। उसके लिए उस वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड होता है और अपराध अस्वीकार करने पर उसका चौगुना दण्ड होता है।[3]

मनु के अनुसार दूसरे के द्रव्य का छिपकर हरण स्तेय कहा जाता है।[4] कौटिल्य के अनुसार जिसका जैसा अपराध हो उसके अनुरूप उसको दण्ड दिया जाना चाहिए। वाक्यापारूष्य के अन्तर्गत अपवाद, निन्दा, कुयश अंग की विकलता आदि आते हैं।[5] स्पर्शन, अवगुण एवं प्रहत्त आदि दण्डपारूष्य है।[6]

कौटिल्य के अनुसार द्यूत–विभाग के अध्यक्ष को द्यूत क्रीड़ा के लिए किसी उपयुक्त स्थान का प्रबन्ध कराना चाहिए तथा कही और द्यूत खेलने वाले पर दण्ड लगाना चाहिए।[7]

---

1. कौ0 3/17
2. वही0 3/17
3. सामान्यद्रव्यप्रसभहरणात्साहसं स्मृतम्।
   तन्मूल्याद् द्विगुणो दण्डो निहवे तु चतुर्गुणः।। याज्ञ0/2/230
4. निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत्।। मनु0 8/332
5. वाक्पारूष्यमुपवादः कुत्सनमभिभर्त्सननमिति। कौ0 3/18
6. दण्डपारूष्यम् स्पर्शनमवगूर्ण प्रहतमिति। कौ 3/19
7. कौ0 3/20

चतुर्थ अधिकरण – कण्टकशोधन

कण्टकशोधन अर्थात् क्षति करने वाले अभियोग राज्य तथा राजकर्मचारियों द्वारा देखे जाते थे कण्टकशोधन को राजधर्म माना जाता था।

इस अधिकरण में पुलिस की कार्रवाई और भारी दण्डों द्वारा दुष्टकर्मियों के दमन के विषय को लिया गया है।

मनु के अनुसार राजा पूर्व कथित सस्यादि–देश का आश्रय कर वहाँ दुर्ग बनवाकर कष्ट को दूर करने में सर्वदा अच्छी तरह प्रयत्न करता रहे।[1]

मनु के अनुसार –

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः।।[2]

सदाचारियों की रक्षा तथा कण्टकों (चोरों तथा साहस कर्म करने वालों आग लगाने या डाका डालने वालो आदि) के शोधन (दण्डित कर नष्ट) करने से प्रजापालन में तत्पर राजा (मरने पर) स्वर्ग को जाते हैं। अर्थात् आर्यरक्षण तथा कण्टकशोधन में राजा को प्रयत्नशील रहना चाहिए।

कौटिल्य के अनुसार –

प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयोऽमात्याः कण्टकशोधनं कुर्यु :।[3]

तीन कमिश्नर (प्रदेष्टा) या तीन मन्त्री प्रजा पीड़क व्यक्तियों से प्रजा की रक्षा करें।

दैवयोग से होने वाली आठ महाविपत्तियों के नाम हैं। अग्नि, जल, बीमारी, दुर्भिक्ष, चूहे, व्याघ्र, साँप, राक्षस, राजा को चाहिए कि इन महाविपदाओं से वह प्रजा की

1. मनु0 9/252
2. वही0 9/253
3. कौ0 4/1

रक्षा करे। इसलिए राजा को चाहिए कि वह दैवी विपदाओं का प्रतीकार करने वाले अथर्ववेद के ज्ञाता तान्त्रिकों, सिद्धों और तपस्वियों को अपने देश में सम्मानपूर्वक रखें।[1]

आचार्य चाणक्य ने 'समाहर्ता' नामक अधिकारी को मुख्य रूप से राजकीय आय को एकत्र करने के लिए नियुक्त करने का परामर्श राजा को दिया है, तथापि न्याय एवं दण्डव्यवस्था की दृष्टि से भी इसको राज्य के महत्त्वपूर्ण अधिकारी के रूप में स्वीकार किया है।

समाहर्ता को चाहिए कि वह गुप्त षड्यंत्र कार्यो को जानने के लिए सारे देश में सिद्ध, तपस्वी, संन्यासी परिव्राजक, भाट, जादूगर, स्वेच्छाचारी, यमपट को दिखाकर जीविका चलाने वाले, शकुन बताने वाले, ज्योतिषी, वैद्य, उन्मत्त, गूंगे, बहरे, मूर्ख, व्यापारी, कारीगर नट, भाँड़, कलवार, हलवाई, पक्का, माँस बेचने वाले और रसोइया आदि के वेष में गुप्तचरों को नियुक्त करें।[2]

गुप्तचरों के प्रयोग के बाद सिद्धों के वेश में रहने वाले गूढ़ पुरुष चोरों, व्यभिचारियों के समूह में रहकर सम्मोहनी विद्याओं के द्वारा प्रजा को कष्ट देनेवाले दुष्टो को प्रलोभन दे।[3] सिद्धवेश गुप्तचरों के कार्यों के बाद शंका, रूप, और कर्म के द्वारा चोरों को पकड़ने की युक्तियों का विधान किया जाता है।[4] आशु मृतक (बिना किसी बीमारी या घाव के अचानक ही जिसकी मृत्यु हो जाये) को तेल में डालकर उसकी परीक्षा की जाये।[5]

चोरी करने वाले की अच्छी तरहा जाँच की जाये यदि वह निर्दोष हो तो उसको बरी कर दिया जाय, अन्यथा उसको सज़ा दी जाय।[6] समाहर्ता और प्रदेष्टा अधिकारियों

---

1. वही0 4/3
2. वही0 4/4
3. वही0 4/5
4. सिद्ध प्रयोगादूर्ध्व शंका रूपकर्माभिग्रहः। वही 4/6
5. कौ0 4/7
6. वही 4/8

को चाहिए कि पहले वे विभागीय अध्यक्षों तथा उनके अधीनस्थ कर्मचारियों पर निगरानी रखें।[1]

समाहर्त्ता का यह भी कर्त्तव्य है कि वह गुप्तचरों के माध्यम से गुप्तषड़यन्त्रकारियों से प्रजा की रक्षा करें तथा इनको दण्ड दिलवाये। विष बनाने वाले विष बेचने वाले, विष खरीदने वाले, झूठे लेख देने वाले, वशीकरण आदि करने वाले भूतप्रेतादि बाधा देने वाले, जाली सिक्के बनाने वाले सभी अपराधियों को राज्य से निकाल दें, सिद्धवेशधारी गुप्तचरों की सहायता से एवं शंका के आधार पर चोरों को पकड़ें; तथा कृषि के प्रति प्रमाद करने वाले और चोरी करने वाले कृषकों को दण्डित करे।

पञ्चम अधिकरण – योगवृत्त

इस अधिकरण में समझाया गया है कि राजा उस मन्त्री से अपना छुटकारा कैसे पा सकता है जिससे उसका मन भर गया है। वह उसको किसी अभियान पर भेज सकता है और उसके साथ ही बदमाशों को भी भेज सकता है जो रणक्षेत्र में उस पर आक्रमण करके उसका वध कर सकते हैं। वह इन बदमाशों को इसलिए भी तैयार कर सकता है कि वह अपने को राजा के सम्मुख ही शस्त्रों के साथ पकड़वा दें, और तब इस बात को स्वीकार करें कि वे उसी द्वेषी मन्त्री के ही विनियुक्त आदमी है तब मन्त्री का तत्काल सफाया कर दिया जाता है।[2]

कौटिल्य के अनुसार –

खजाने के कम हो जाने या अकस्मात् ही अर्थसंकट उपस्थित आ जाने पर राजा को कोष सञ्चय करना चाहिए।

पक्वं पक्वमिवारामात् फलं राज्यादवाप्नुयात्।

आत्मच्छेदभयादामं वर्जयेत् कोपकारकम्।।[3]

1. वही0 4/9
2. वही0 5/1
3. वही 5/2

अर्थात् राजा को चाहिए कि वह दुष्ट पुरुषों का धन उसी प्रकार ले ले जिस प्रकार वाटिका से पके हुए फल को लिया जाता है किन्तु धर्मात्मा पुरुषों का धन वह उसी प्रकार छोड़ दे जैसे कच्चे फल को छोड़ दिया जाता हैं। कच्चे फल के समान धर्मात्मा पुरुषों से वसूला गया धन प्रजा के कोप के कारण बन जाता है।

अग्नि पुराण के अनुसार भृत्यों का भरण, दान, प्रजा तथा मित्रों की सहायता, धर्म–कर्म आदि की परिपूर्णता और दुर्ग–संस्कार आदि कार्य कोष ही के बल पर सिद्ध होते हैं किन्तु कोष में दोष उत्पन्न होने से ये सब नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि राजा का मूल तो कोष ही है।[1]

दुर्ग और जनपद की शक्ति के अनुसार सेवकों को रखा जाये और राज्य की आय का चौथा भाग उनके भरण–पोषण पर व्यय किया जाय या कार्य कुशल भृत्य जितने भी वेतन पर मिले उन्हें नियुक्त किया जाये, किन्तु लाभ के स्तर पर अवश्य ध्यान रखा जाये।[2]

जो व्यक्ति सांसारिक व्यवहारों में कुशल हो उनको चाहिए कि वे राजा के प्रिय एवं हितैषी व्यक्तियों के द्वारा, सत्कुलीन बुद्धिमान एवं योग्य अमात्यों से सम्पन्न राजा का आश्रय प्राप्त करें। यदि ऐसा राजा न मिले तो योग्य व्यक्तियों की तलाश करने वाले आत्मसम्पन्न राजा का आश्रय ग्रहण करें।[3]

अपने–अपने कार्यो पर नियुक्त हुए कर्मचारियों को चाहिए कि वे खर्चे को घटाकर शुद्ध आमदनी राजा को दिखायें। कर्मचारियों को चाहिए कि दुर्ग में होने वाले तथा बाहर होने वाले कार्यों का खुले रूप में तथा छिपकर होने वाले कार्यों का, विघ्नयुक्त एवं उपेक्षायुक्त कार्यो का विवरण स्पष्ट रूप में राजा के सामने पेश करे और उन सभी बातों का लेखा रजिस्टर में दर्ज कर दें।[4]

1. अग्नि पुराण0 239/22
2. कौ0 5/3
3. वही0 5/4
4. वही 5/5

षष्ठ अधिकरण मण्डलयोनि–

इस अधिकारण में राजा के मण्डल तथा उनकी प्रकृतियों का वर्णन किया गया है। मण्डलयोनि षाड्गुण्य का आधार है।

कौटिल्य के अनुसार –

स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोषदण्डमित्राणि प्रकृतयः।।[1]

स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग,कोश, दण्ड, मित्र ये सात प्रकृतियाँ हैं। शुक्राचार्य के अनुसार भी सात अङ्गों का निर्देश है।[2]

स्वामी–

उच्चकुल शील, धर्मनिष्ठ, सत्यवादी, कृतज्ञ, बलवान, उत्साही, दृढ़प्रतिज्ञ, विनयशील, विवेकी, स्पष्ट, विचारयुक्त, तर्क–वितर्क में प्रवीण, सन्धि–विग्रह के सम्यक् ज्ञान वाला, प्रजा के पोषण में समर्थ, राजकोष में वृद्धि करने वाला आदि विशिष्ट गुण होना राजा में अनिवार्य है।

अमात्य–

राज्य के सात अंगों में दूसरा है। अमात्य वे भी राज्य संस्था के महत्त्वपूर्ण अंग होते थे। अमात्यों की योग्यताओं के अन्तर्गत उन्हें कुलीन, स्वदेशोत्पन्न, समर्थ, प्रगल्भ, चतुर, नीतिनिपुण, साहसी, राष्ट्रसेवी स्वामीभक्त, तथा सहिष्णु होना चाहिए।

राष्ट्र या जनपद–

राज्य का तीसरा अंग जनपद है। इसका अर्थ राष्ट्र, देश अथवा स्वजातीय राज्य है। जनपद की भूमि इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि जनता का पालन हो सके, विपत्ति

---

1. कौ0 6/1
2. स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।
   सप्तांगमुच्यते राज्यं तत्र मूर्धा नृपः स्मृतः।। शुक्र0 1/61

के समय शरण लेने वाले विदेशी लोग भी उससे अपना निर्वाह कर सकें, उसमें शत्रुओं से रक्षा के साधन हों खेत, चारागाह, जंगल, खाने, जल और स्थल मार्ग, सिंचाई के लिए नहरें तथा कुँए आदि उसमें हों और उसकी जलवायु भी उत्तम हो।

दुर्ग –

राज्य की रक्षात्मक और आक्रामक शक्ति दोनों का प्रतीक दुर्ग सात अंगों में से एक है। कौटिल्य ने राज्य पर विशेष बल देते हुए युद्धोचित दुर्गों के निर्माण को आवश्यक बताया है। शत्रु से राज्य की रक्षा करने में दुर्ग का विशेष महत्त्व है यदि दुर्ग न हो तो कोष पर शत्रु सुगमता से अपना अधिकार कर लेगा।[1]

कोश–

कौटिल्य के अनुसार जिस राजा का कोश रिक्त हो जाता है वह नगरवासियों एवं ग्रामवासियों को चूसने लगता है। राज्य के समस्त कार्य–व्यापार कोष पर निर्भर रहते हैं। अतः राजा को सर्वप्रथम कोष पर ध्यान देना चाहिए।

दण्ड–

कौटिल्य के अनुसार दण्ड वह साधन है जिसके द्वारा आन्वीक्षिकी, त्रयी एवं वार्ता का स्थायित्व एवं रक्षण अथवा योगक्षेम होता है।

मित्र–

राजा के लिए अच्छे मित्र के गुणों का वर्णन किया है। कौटिल्य के अनुसार मित्र वंश परम्परागत हो, वह स्थायी हो, अपने वश में रह सके, तथा समय आने पर सहायता कर सकें।[2]

अर्थात् इन सप्तांगों के सहयोग से ही राज्य का स्वरुप स्पष्टतया निर्धारित होता है।

---

1. कौ0 6/1
2. वही0 6/1

सप्तम अधिकरण–षाड्गुण्य–

राज्य की वैदेशिक नीति का संचालन करने के लिए षाड्गुण्य का विशेष महत्त्व था। इन्हीं के सिद्धान्तों पर विदेश नीति सुचारु रूप से चलती थी। दूसरे राज्यों के साथ व्यवहार के सम्बन्ध में राज्यों के साथ व्यवहार निश्चित करने के लिए छह लक्षणों वाली षाड्गुण्य नीति आचार्य कौटिल्य ने बताई है।

संधिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यम्।[1]

संधि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय एवं द्वैधीभाव छः गुण हैं।

अर्थात् दोनों राज्यों के सुख–चैन के लिए हाथी, घोड़ा आदि सैनिक शक्ति तथा सुवर्ण आदि धन के द्वारा परस्पर में एक दूसरे की सहायता करने का निश्चय करना आदि सन्धि होती हैं, युद्ध आदि द्वारा विरोध करना विग्रह है। शत्रु के ऊपर चढ़ाई करने के लिए आगे बढ़ना यान है। शत्रु की उपेक्षा कर चुप मारकर किले आदि सुरक्षित स्थानों में बैठ जाना, आसन है। अपने कार्य की सिद्धि के लिए सेना को दो हिस्सों में करके कार्य करना द्वैधीभाव है। शत्रु से दबाये जाने पर उससे बलवान दूसरे राजा का आश्रय लेना संश्रय है। इन छः गुणों में से जिसके ग्रहण करने से शत्रु की हानि एवं अपनी बुद्धि हो उसका विचार करना चाहिए। इन्हीं को 'षड्गुण' कहते हैं–कौटिल्य ने सन्धि विग्रह, यान, आसन, संश्रय, और द्वैधीभाव इन छः गुणों में राजा को मुख्य रूप से सन्धि, विग्रह, और यान इन तीनों को अपनाने की सलाह दी है।

मनु के अनुसार–

आसनं चैव यानं च संधि विग्रहमेव च।
कार्य वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च।।[2]

---

1. कौ0 7/1
2. मनु0 7/161

राजा अपनी हानि एवं लाभ को विचारकर आसन, यान, सन्धि, विग्रह तथा द्वैध एवं संश्रय करे।

अर्थात् किसी राजा के साथ सन्धि कर आसन या किसी से विग्रह करके यान (चढ़ाई) कर देना अथवा द्वैधीभाव और बली राजा का आश्रय करना आदि कार्य राजा को करना चाहिए।

याज्ञवल्क्य के अनुसार सन्धि, विग्रह, यान, उपेक्षाभाव, बलवान का आश्रय तथा अपनी सेना का द्विधा विभाजन–जन गुणों का यथोचित देश, काल, शक्ति, मित्र, आदि का विचार करके अवलम्बन करे।।[1]

कौटिल्य द्वारा सन्धि एवं विग्रह दोनों स्थिति में समान वृद्धि (लाभ) होने पर संधि करनी चाहिए।[2] दो या दो से अधिक राजाओं द्वारा परस्पर वैर–भाव की समाप्ति और एक दूसरे की सहायता करने का समझौता ही सन्धि है। शत्रु की तुलना में यदि राजा अपने को निर्बल समझे तो उसे संधि कर ही लेनी चाहिए।

अर्थशास्त्र के टीकाकार रघुनाथ सिंह के अनुसार सन्धि 16 प्रकार की कही गयी है–आत्मार्मश संधि, पुरुषान्तर सन्धि, अह्रष्ट पुरुष सन्धि, परिक्रम सन्धि, उपग्रह सन्धि, सुवर्ण सन्धि, कपाल सन्धि, उच्छिन्न सन्धि, अवक्रय सन्धि, परदूषण सन्धि आदि मुख्य हैं।[3]

विग्रह का अर्थ युद्ध करना होता है इस नीति का अनुगमन राजा को तभी करना चाहिए जब राजा अपने शत्रु को निर्बल देखें। स्वयं की युद्ध व्यवस्थाएं समुचित हों। विजिगीषु राजा यह समझे कि मेरे देश में आयुधजीवी क्षत्रिय और कृषक अधिक हैं, मेरे

---

1. संधि च विग्रहं यानमासनं संश्रयं तथा।
   द्वैधीभावं गुणानेतान् यथावत्परिकल्पयेत्।। याज्ञ0 1/347
2. संधिविग्रहयोस्तुल्यायां वृद्धौ संधिमुपेयात्। कौ0 7/2
3. डॉ0 रघुनाथ सिंह/कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्/पृ0सं0 212

देश में, पर्वत, जंगल, नदी तथा किले बहुत हैं यदि ऐसा समझे तो विग्रह कर देना चाहिए। इस प्रकार की परिस्थितियों में विग्रह करके ही उसकी अपनी उन्नति हो सकती है।

कौटिल्य के अनुसार सन्धि के चार धर्म हैं – अकृत चिकीर्षा, कृतश्लेषण, कृत विदूषण, अवशीर्ण क्रिया। इसी प्रकार –आचार्य कौटिल्य के अनुसार विग्रह के भी तीन धर्म हैं –

विक्रमस्य प्रकाशयुद्धं कूटयुद्धं तूष्णींयुद्धम्।[1]

विक्रम के तीन धर्म हैं–प्रकाशयुद्ध, कूटयुद्ध एवं तूष्णींयुद्ध। इनमें से प्रकाश युद्ध वह है जो किसी समय या देश का निर्धारण करके युद्ध की घोषणा की जाती है। कूट युद्ध नितान्त कूटनीति पर आधारित होता है। इसमें थोड़ी सी सेना को बहुत दिखाकर भय पैदा कर देना, किलों को जलाना एवं लूटपाट कर देना आदि आता है। विष एवं औषधि आदि के प्रयोगों तथा विषकन्या सदृश गुप्तचरों के प्रयोगों से शत्रु का विनाश करना तूष्णी युद्ध कहलाता है।

यान का अभिप्राय वास्तविक आक्रमण है। विग्रह और यान में मात्र स्तर का ही भेद है। यान विग्रह से कुछ आगे है। इस सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य का कथन है कि "शत्रु के कर्मो का नाश यान से हो सकेगा और मैने अपने कर्मो की रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर दिया है।[2]

यदि ऐसा है तो यान का आश्रय लेकर राजा को अपनी उन्नति करनी चाहिए।

मित्रेण ग्राहये त्पार्ष्णिमभियुक्तोऽभियोगिनः।
मित्रमित्रेण चाक्रन्दं पार्ष्णिग्राहन्निवारयेत्।।[3]

यदि कोई विजयाभिलाषी राजा पर चढ़ आये तो वह अपने मित्र द्वारा उसका पीछा करा के तथा आक्रन्द और पार्ष्णिग्राह को अपने मित्र के मित्र द्वारा पीछे हटवाये।

1. कौ0 7/6
2. वही0 7/5
3. वही0 7/13

जब दोनों शत्रु राजा अपनी–अपनी सीमा के अन्दर रहकर अपनी शक्ति संगठित करके युद्ध की प्रतीक्षा करते हैं तब दोनों ही पक्ष युद्ध में पूर्णतः सन्नद्ध रहते हैं। उचित समय की प्रतिक्षा में चुपचाप बैठना ही आसन है। आचार्य कौटिल्य का यह भी निर्देश है कि यदि शत्रु बल और आत्मबल में कोई अन्तर न समझें तो आसन को अपना लेना चाहिए।

जब प्रभावित राज्य न तो शत्रु को हानि पहुँचा सकता है और न अपनी सुरक्षा करने में ही समर्थ है तब संश्रय या मैत्री को बढ़ावा देकर प्रभावित राज्य अपनी शक्ति में बढ़ोत्तरी कर सकता है।

मनु के अनुसार संश्रय दो प्रकार का होता है –
अर्थसंपादनार्थ च पीडयमानस्य शत्रुभिः।
साधुषु व्यपदेशार्थ द्विविध; संश्रयः स्मृतः।।[1]

अर्थात् शत्रु से पीड़ित होते हुए आत्मरक्षार्थ किसी बलवान राजा का आश्रय लेना प्रथम 'संश्रय' तथा भविष्य में शत्रु से पीड़ित होने की आशंका से आत्मरक्षार्थ किसी बलवान् राजा का आश्रय लेना द्वितीय 'संश्रय' है।

आचार्य कौटिल्य का निर्देश है कि यदि एक के साथ सन्धि तथा दूसरे के साथ विग्रह की स्थिति आये तो द्वैधीभाव की नीति अपनाना श्रेष्ठ है।

इस प्रकार जो राजा एक दूसरे से अनुबद्ध इन छःसन्धि विग्रह आदि उपायों का ठीक–2 प्रयोग करता है, वह अपनी बुद्धि रूपी सांकल से बंधे हुए राजाओं से अपने अभीष्ट को सिद्ध करता रहता है।[2]

अष्टम अधिकरण–व्यसनाधिकारिक– इस अधिकरण में राजाओं पर आने वाली विपत्तियों का वर्णन किया गया है। अमात्य आदि प्रकृति वर्ग पर आने वाले व्यसनों के दो प्रकार हैं– दैव और मानुष। दोनों के दो ही कारण हैं–अनय और अपनय।[3] जब शत्रु

1. मनु0 7/168
2. कौ0 7/18
3. वही0 8/1

और विजयाभिलाषी राजा पर एक साथ विपत्ति आये तो उस समय उसे अपनी रक्षा करनी चाहिए या शत्रु पर आक्रमण करना उचित है इस विचार को व्यसन चिन्ता कहते हैं। दैव और मानुष जो प्रकृतियों के संकट हैं– वे सन्धि आदि की उचित व्यवस्था न करने रूप अनय तथा शत्रुओं से पीड़ित होते रहने रूप अपनय से होते हैं। अर्थशास्त्र के टीकाकार श्री पण्डित गंगाप्रसाद जी शास्त्री द्वारा सन्धि–विग्रह आदि गुणों का विरोध, उनका अभाव या उनका अनुचित प्रयोग, कोष आदि से उनकी व्यवस्था विषयों में आसक्ति और शत्रुओं द्वारा पीड़ित होना ये पांच व्यसन कहलाते हैं।[1]

कौटिल्य के अनुसार –

स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्रव्यसनानां पूर्व–पूर्वं गरीयः।[2]

स्वामी अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड एवं मित्र के व्यसनों में पूर्ववर्ती का व्यसन अधिक महत्त्वपूर्ण है।

कौटिल्य के अनुसार मन्त्री, पुरोहित आदि पूज्यवर्ग भृत्यवर्ग, अध्यक्ष नियुक्ति, अमात्य और सेना तथा जनपद और दुर्ग आदि पर आई हुई विपत्तियों का प्रतीकार तथा इनकी उन्नति का कारण राजा ही है। यदि अमात्य व्यसन में फंस गए तो उनके स्थान पर अन्य व्यसनहीन अमात्यों को राजा नियुक्त कर सकता है। पूज्य के पूजन और दुष्ट के विग्रह में राजा ही तत्पर होता है। यदि राजा योग्य हो, तो वह अपनी प्रकृति से अमात्य आदि को सम्पत्ति युक्त बना सकता है। राजा जिस आचरण का होता है, उसके अमात्य आदि भी उसी के हो जाते हैं। इनकी उन्नति और अवनति राजा के ही अधीन है इन सातों प्रकृतियों में मुख्य प्रकृति राजा ही माना गया है। कौटिल्य जनपद के सारे कार्यों को अमात्य के अधीन ही मानते हैं जनपद के दुर्ग कृषि आदि कार्यों की सिद्धि, राजकीय परिवार और अन्तपाल आदि द्वारा क्षेम साधन, विपत्तियों का प्रतीकार, निर्जल

1. श्री पंडित गंगाप्रसाद जी शास्त्री/कौटलीय अर्थशास्त्र/पृ0सं0 41
2. कौ0 8/1

स्थानों का बसाना, उनकी वृद्धि करना, दण्ड देना और राज्य कर का संग्रह आदि सारे कार्य अमात्यों के बिना नहीं हो सकते हैं।[1]

अर्थशास्त्र के टीकाकार श्री पंडित गंगाप्रसाद जी शास्त्री के अनुसार पराशर का मत है कि दुर्ग व्यसन में दुर्ग व्यसन अधिक महत्त्वशाली है। दुर्ग के अधीन ही कोश और सेना होती है। राजा को विपत्ति में दुर्ग ही सहायक होते हैं परन्तु कौटिल्य इस मत को नहीं मानते हैं वे तो दुर्ग, कोश, सेना, सेतु बन्धन, कृषि व्यापार शूरता, धैर्य, चतुराई और संख्या का बाहुल्य भी जनपद के अधीन ही मानते हैं। यदि नगर या राष्ट्र न हो तो पर्वत तथा द्वीपों के दुर्ग भी सूने पड़े रहते हैं। जिस प्रदेश में किसानों का प्राधान्य हो वहाँ दुर्ग व्यसन और आयुध प्रधान जनपद व्यसन बलवान है।[2]

कौटिलय के अनुसार –

दुर्गापर्णः कोशो दण्डस्तूष्णींयुद्धं स्वपक्षनिग्रहो दण्डबलव्यवहारः आसारप्रतिग्रहः परचक्राटवीप्रतिषेधश्च।[3]

कोश, दण्ड, तूष्णीयुद्ध स्वपक्ष निग्रहों, दण्डबल व्यवहार, मित्रबल स्वीकार, शत्रु सैन्य एवं आटविक का आक्रमण निवारण दुर्ग के अधीन होता है। अर्थात् कौटिल्य कोश और सेना की रक्षा भी दुर्ग के अधीन मानते हैं। यदि दुर्ग न हो–तो कोश ही दूसरों के पंजे में चला जायेगा। जिनके पास दुर्ग होते हैं उनका उच्छेद नहीं हो सकता है।

कौटिल्य कोश के अधीन सेना को मानते हैं। यदि कोश न हो–तो सेना शत्रु के पास चली जाती है या स्वामी को ही मार डालती है। कोश के अभाव में सेना सारे झगड़े खड़े कर देती है। कोश की उपलब्धि और उसका पालन सेना के अधीन है परन्तु कोष तो सेना और कोश दोनों की रक्षक है। सारी वस्तुओं की प्राप्ति का साधन कोश होने

1. कौ0 8/1
2. श्री पण्डित गंगाप्रसाद जी शास्त्री/कौटलीय अर्थशास्त्र/पृ0सं0 495
3. कौ0 8/1

से कोश का व्यसन अधिक क्लेश कर मानना चाहिए।[1]

कौटिल्य के अनुसार– सेना की शक्ति रखने वाले राजा के मित्र तो मित्र रहते ही हैं। परन्तु उसके तो शत्रु भी मित्र बन जाते है यदि दोनो पर एक साथ विपत्ति आये तो शत्रु के बढ़ जाने पर मित्र ही अर्थ सिद्धि में सहायक होता है। यहां तक प्रकृति व्यसन का निर्णय किया गया है।[2]

कौटिल्य के अनुसार –

शेषप्रकृतिनाशस्तु यत्रैकव्यसनाद्भवेत्।
व्यसनं तद्गरीय : स्यात्प्रधानस्येतरस्य वा।।[3]

यदि एक ओर से एक प्रकृति पर व्यसन आने पर शेष प्रकृति का भी नाश हो जाये तो वह व्यसन चाहे, प्रधान प्रकृति पर या अप्रधान प्रकृति पर हो– उसे भारी ही समझना चाहिए।

कौटिल्य द्वारा राजा और उसके राज्य पर आने वाले संकट के विषय में भी बताया गया है – राजा के ऊपर आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार का कोप होता है।[4]

घर में रहने वाले सर्प की तरह अमात्य आदि का भीतरी कोप अधिक भयावह होता है उतना शत्रु का बाहरी कोप हानिकारक नहीं है।

कौटिल्य के अनुसार –

द्वयोर्द्वयोर्व्यसनयोः प्रकृतीनां बलाबलत्।
पारम्पर्यक्रमेणोक्तं याने स्थाने च कारणम्।।[5]

---

1. कोशमूलो हि दण्डः।
   सर्वदृव्यप्रयोजकत्वात्कोषव्यसनं गरीय इति।कौ0 8/1
2. कौ0 8/1
3. वही0 8/1
4. राज्ञोऽभ्येन्तरो बाह्मे वा कोप इति। कौ0 8/2
5. कौ0 8/2

जब दोनों राजा और शत्रु में व्यसन उत्पन्न हो–तो उनकी प्रकृति का बलाबल देखना चाहिए। व्यसन की न्यूनता में मान और अधिकता में चुपचाप बैठे रहना ही शास्त्रानुसार माना गया है।

पुरुषों में होने वाले व्यसनों के विषय में भी कौटिल्य ने वर्णन किया है – अविद्या युक्त और अशिक्षित होना पुरुष पर विपत्ति आने का हेतु है जो अशिक्षित होता है, वह व्यसन के दोषों को नही पहचान सकते हैं। कोप से उत्पन्न तीन दोष और काम से उत्पन्न चार दोष माने गये हैं। इनमें कोप अधिक दूषित माना गया है, क्योंकि कोप सब जगह अधिकार रखता है अक्सर कोप में भरे हुए राजा प्रकृति के कोप से नष्ट हुए सुने गए है। काम के वशीभूत राजा क्षय और विपत्ति में उलझ कर अत्यन्त व्याधियों से युक्त होकर नष्ट होते देखे गये हैं।[1]

अग्नि, उदक, व्याधि, दुर्भिक्ष, एवं मरक दैवी पीड़न है।[2] अग्नि एक गांव आधा गांव को जलाकर शान्त हो जाती है परन्तु जल प्रवाह सैकड़ों गांवो को ठण्डा कर देता है।[3]

कौटिल्य के अनुसार व्याधि एक देश में पीड़ा पहुँचाती है और उसका प्रतीकार भी किया जा सकता है परन्तु दुर्भिक्ष, सब देश को पीड़ा पहुँचाता है और प्राणियों के नाश के लिए होता है। यही बात महामारी के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।[4]

कौटिल्य के अनुसार चौबीस प्रकार के सेना के व्यसन होते हैं।[5]

टीकाकार श्री पंडित गंगाप्रसाद जी शास्त्री के अनुसार अमानित और विमानित सेना में अमानित सेना आदर कर देने पर लड़ जाती है, परन्तु विमानित सेना समय पर युद्ध नहीं कर सकेगी, क्योंकि उनके भीतर क्रोध भरा हुआ रहता है। जिनका आदर नहीं किया गया वह अमानित और जिसका तिरस्कार कर दिया हो– उसे विमानित कहा

1. कौ0 8/3
2. दैवपीऽनम् अग्निरूदकं व्याधिर्दुभिक्षं मरक इति। कौ0 8/4
3. अग्निग्राममर्धग्रामं वा दहति, उदकवेगस्तु ग्रामशतप्रवाहीति। कौ0 8/4
4. कौ0 8/4
5. वही0 8/5

जाता है। अमृत और व्याधित सेना में अमृत सेना वेतन चुका देने पर लड़ सकती है पर रोगी सेना अकर्मण्य होने से नहीं लड़ सकती। जिसका वेतन नहीं दिया जाता हो, उसे अमृत और रोगिणीसेना को व्याधित कहते हैं। नवागत और दुरायात सेना में नवागत सेना अन्य से इस प्रदेश का वृत्तान्त जानकर युद्ध करने खड़ी हो सकती है, परन्तु दूरायात सेना थकी रहने के कारण युद्ध करने में समर्थ नहीं होती। नई आई हुई नवायत और दूर से आई हुई दुरायात सेना होती है।[1] इसी प्रकार परिश्रान्त, परिक्षीण, प्रतिहत, हताग्रवेग, अनृतुप्राप्त, अभूमिप्राप्त, आशानिर्वेदि, परिसृप्त, कलत्रगर्हि, अन्तः शल्य, कुपितमूल, भिन्नगर्भ अपसृत, अतिक्षिप्त, उपनिविष्ट, समाप्त, उपरुद्ध, उपक्षिप्त, छिन्नधान्यः, छिन्नपुरूष वीवध, स्वविक्षिप्त, मित्रविक्षिप्त, दूष्ययुक्त, दुष्टपार्ष्णिग्राह, शून्यमूल, अस्वामिसंहत, भिन्नकूट और अन्धा आदि व्यसनों का वर्णन भी इस अधिकरण में किया गया है।

कौटिल्य के अनुसार –

यतो निमित्तं व्यसनं प्रकृतीनामवाप्नुयात्।
प्रागेव प्रतिकुर्वीत तन्निमित्तमतन्द्रितः।।[2]

अर्थात् जिन कारणों से अपने अमात्य आदि का व्यसन प्राप्त करे–उन कारणों का बड़ी सावधानी से वह प्रथम ही निराकरण कर दे।

नवम् अधिकरण–अभियास्यत्कर्म– इस अधिकरण में सैनिक अभियान से पूर्व तैयारी करने तथा सावधानी कैसे की जाये इसका वर्णन है – उत्साह आदि शक्ति, देशकाल, इनकी अनुकूलता का बल और प्रतिकूलता की निर्बलता आदि को इसमें बताया गया है। अर्थात् विजय की इच्छा रखने वाला राजा अपने और शत्रु के बलाबल, शक्ति, देशकाल, यात्राकाल, सेना की उन्नति का समय, पीछे के राजाओं का आक्रमण,

1. श्री पंडित गंगाप्रसाद जी शास्त्री/कौटलीय अर्थशास्त्र/पृ0सं0 513
2. कौ0 8/5

जनक्षय, धनव्यय, फलसिद्धि, बाहरी और भीतरी आपत्ति को जानकर अधिक सेना लेकर शत्रु पर चढ़ाई करे अन्यथा न करे।[1]

शक्ति तीन प्रकार की होती है– प्रभाव से उत्पन्न, उत्साह से उत्पन्न, मन्त्रणा से उत्पन्न, जैसा कि कामन्दक ने कहा है–

प्रभावोत्साहसक्तियभ्यां मन्त्रशक्तिः प्रशस्यते।

प्रभावोत्साहवान् काव्यो जितो देवपुरोधसा।।[2]

प्रभाव–शक्ति और उत्साह–शक्ति की अपेक्षा मन्त्र–शक्ति श्रेष्ठ है क्योंकि प्रभाव–शक्ति और उत्साह–शक्ति से सम्पन्न शुक्राचार्य को (मन्त्र–शक्ति–सम्पन्न) बृहस्पति ने जीत लिया था।

कौटिल्याचार्य इस बात को मानते हुए कहते हैं कि जो राजा प्रभावशाली होता है, वह अपने प्रभाव के कारण उत्साही अर्थात् पराक्रमी होता है, वह अपने प्रभाव के कारण उत्साही अर्थात् पराक्रमी राजा को भी जीत लेता है।[3] प्रभावशक्ति की अपेक्षा मन्त्र शक्ति ही अधिक उत्तम है। जिस राजा की बुद्धि और शास्त्र आँखें हैं, वह थोड़े भी प्रयत्न से अपने मन्त्र को सफल बना सकता है तथा उत्साही और प्रभावशाली राजाओं को समादि उपाय या विश आदि प्रयोगों के द्वारा वश में कर सकता हैं। इस प्रकार उत्साह शक्ति से प्रभाव तथा प्रभाव शक्ति से मन्त्र शक्ति को बलवान् मानना चाहिए।[4]

महाभारत में कहा गया है –

प्रयास्यमानो नृपतिस्त्रिविधां परिचिन्तयेत्।
आत्मनश्चैव शत्रोश्च शक्तिं शास्त्रविशारदः।।[5]

---

1. कौ0 9/1
2. वाचस्पति गैरोला/राजनीतिरत्नाकर/पृ०सं० 65
3. प्रभाववानुत्साहवन्तं राजानं प्रभावेणातिसंधते तद्विशिष्टमन्यं राजानमावह्य हत्वा क्रीत्वा प्रवीरपुरूषान्। कौ0 9/1
4. कौ0 9/2
5. वाचस्पति गैरोला/राजनीतिरत्नाकर/पृ०सं० 67

अर्थात् शत्रु पर चढ़ाई करने वाले शास्त्राविशारद राजा को अपनी और शत्रु की त्रिविध शक्तियों पर भली–भाँति विचार कर लेना चाहिए।

कौटिल्य के अनुसार पृथ्वी ही देश है।[1]

पृथ्वी पर हिमालय से दक्षिण समुद्र तक का मध्य भाग तथा पूर्व–पश्चिम की ओर एक हज़ार योजन तक तिर्यक् अर्थात् तिरछे–पूर्व–पश्चिम सागर पर्यन्त चक्रवर्ती क्षेत्र है। वायुपुराण के अनुसार जिसके उत्तर में हिमालय और दक्षिण में समुद्र है और जहाँ पर भारतीय प्रजा है, उस देश का नाम भारतवर्ष है।[2]

शीत, ऊष्ण, वर्षा रूपधारी काल होता है। रात, दिन, मास, ऋतु, अयन, पक्ष, संवत्सर एवं युग विशेष भेद हैं। इनमें राजा अपनी सेना के बल की वृद्धि के करने वाले कार्यों का आरम्भ करें।[3]

कौटिल्य के अनुसार शक्ति, देश, काल, परस्पर एक दूसरे के पोषक है इनमें किसी एक की विशेषता नहीं है।[4]

कौटिल्य के अनुसार–

मौलभृतकश्रेणीमित्रामित्राटवीबलानां समुद्वानकालाः।[5]

मौल, भृतक, श्रेणी, मित्र, अमित्र, अटवी बलों का समुद्वान काल आदि का वर्णन है। अर्थात् राजा को अपने पास मौल–बल, शत्रुबल और श्रेणी–बल का सर्वदा संग्रह करना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार सात प्रकार की सेनाओं में उत्तर की अपेक्षा पूर्व सेना का संग्रह अधिक श्रेयस्कर है। अपने स्वामी के भाव में भाव मिलाने और नित्य सत्कार करने से भृतबल से मौलबल श्रेष्ठ है। नित्य समीप रहने और शीघ्र युद्ध के लिए

1. कौ0 9/2
2. वायु0 45, 75,–76
3. कौ0 9/2
4. परस्परसाधका हि शक्तिदेशकालः।। कौ0 9/1
5. कौ0 9/2

तैयार कर देने के कारण भृतबल श्रेष्ठ है। अपने देश का होने तथा एक स्वार्थ होने के कारण मित्रबल की अपेक्षा श्रेणीबल उत्तम है।[1] इसमें सेना के तैयार होने तथा योग्यतानुसार कार्यों में लाने का तथा सेना के उद्योग का तथा शत्रु के अनुरूप अपनी सेना को बनाने का निरूपण भी किया गया है।

विजय यात्रा के निमित्त चढ़ाई कर देने, दुष्ट अन्य राजाओं द्वारा पीछे से राजधानी पर आक्रमण और बाह्य आभ्यन्तर प्रकृतियों के कोप के प्रतीकार का वर्णन भी किया गया है –

यदि पीछे के राजाओं के राजधानी पर आक्रमण करने से थोड़ी हानि हो और चढ़ाई से अधिक लाभ हो–तो थोड़ा सा पीछे से हो जाने वाली हानि, अधिक लाभ की अपेक्षा भारी मानी गई है।[2]

मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज का खड़ा किया हुआ कोप आभ्यन्तर कोप कहलाता है। यदि यह आभ्यन्तर कोप राजा के किसी दोष से उत्पन्न हुआ हो–तो राजा उस दोष का परित्याग करे और यदि उनका अपराध हो तो उन्हें दण्ड द्वारा वश में लाये।

राष्ट्र के प्रधान व्यक्ति अन्तपाल, आटविक, जंगली दण्ड द्वारा वश में किया हुआ राजा–इन के द्वारा खड़ा किया हुआ उपद्रव बाह्यकोप कहलाता है।[3]

कौटिल्य के अनुसार –

परे परेभ्य : स्वे स्वेभ्यः स्वे परेभ्यः स्वतःपरे।
रक्ष्याः स्वेभ्यः परेभ्यश्च नित्यमात्मा विपश्चिता।।[4]

इस प्रकार शास्त्र व्यवस्था को समझकर विद्वान् राजा, बाह्यों को शत्रु से अपनों को अपनों से, अपने शत्रु से अपने से परायों को बचाता रहे। इसी तरह अपने आपको

1. वही0 9/3
2. वही0 9/3
3. वही0 9/3
4. वही0 9/3

भी अपने और परायों से नीतिमान् राजा सदा सुरक्षित रखे।

वाहन और वीर पुरुषों के विनाश को क्षय और हिरण्य तथा धान्य की हानि को व्यय कहते हैं। यदि जनक्षय और धन व्यय होने पर भी बहुत अधिक लाभ की आशा हो—तो चढ़ाई कर दे। आदेय, प्रत्यादेय, प्रसादक, प्रकोपद, ह्वकाल, तनुक्षय, अल्पव्यय, महान्, वृद्धयुदल, कत्य, धर्म्य पुरोग ये बारह लाभ के भेद माने गए हैं।[1]

सन्धि आदि छः गुणों का ठीक ठीक प्रयोग नहीं करने को अपनय कहते हैं। इसी कारण से यह आपत्तियाँ खड़ी होती हैं। जिस आपत्ति में बाहर के अन्तपाल, राष्ट्र मुख्य आदि व्यक्ति भेद डालते हैं, और आभ्यन्तर मन्त्री पुरोहित आदि उनसे मिल जाते हैं, इस आपत्ति को बाह्योत्पत्तिरभ्यन्तर प्रतिजाप कहते हैं। जिसमें अभ्यन्तर मन्त्री आदि तोड़—फोड़ लगाते है और बाहर के अन्तपाल आदि भड़क उठते हैं इसे अभ्यन्तरोत्पत्तिर्बाह्य प्रतिजाप आपत्ति कहते हैं। जिसमें बाहर के ही अन्तपाल आदि भड़काने वाले और बाहर के ही राष्ट्र मुख्य आदि भड़कने वाले हों— उसे बाह्योत्पपत्तिर्बाहा प्रतिजाप आपत्ति कहते हैं तथा भीतरी मन्त्री आदि भड़काने वाले और पुरोहित आदि भड़काने वाले हों—उसे अभ्यन्तरोत्पत्तिरभ्यन्तर प्रतिजाप आपत्ति कहते हैं— इस प्रकार चार प्रकार की बाह्य और अभ्यन्तर आपत्तियाँ होती हैं।[2]

आपत्ति दुष्ट पुरुष और शत्रु से उत्पन्न होती हैं जो दूष्य पुरुषों से उठे उन्हें दूष्य शुद्ध और जो शत्रु द्वारा उठे उसे शत्रु आपत्ति कहा जाता है।[3]

हिरण्य अर्थात् सुवर्ण के सिक्के भूमि आदि अर्थ, शरीर आदि का नाश अनर्थ, इन दोनों के विषय में संदेह को संशय कहते हैं। इनसे युक्त आपत्तियों तथा उनके प्रतीकारों का भी वर्णन किया गया है।[4]

---

1. वही0 9/4
2. वही0 9/5
3. दुष्येभ्यः शत्रुभ्यश्च द्विविधाः शुद्धाः। कौ0 9/6
4. कौ0 9/7

दशम अधिकरण–सांग्रामिक– इस प्रकरण में स्कन्धावार (सेना के पड़ाव या छावनी को किस तरह डालना चाहिए– इस विषय का वर्णन किया जायेगा।

गृह निर्माण की विद्या में कुशल पुरुषों द्वारा प्रशासित प्रदेश में सेनापति, कारीगर और मुहूर्त देखने वाला ज्योतिषी मिलकर गोल, लम्बा या चौकोर जैसा जिस भूमि में बन सके चार द्वारवाला, छः भागों से युक्त, नौ सुन्दर स्थानों से सुशोभित, स्कन्धावार (सेना निवास) के स्थान को नापे। खाई, परकोटा, शाला विशालद्वार, अट्टालिका से युक्त, स्कन्धावार जब बनाया जाये, जब शत्रु का भय खड़ा हो।[1] महाभारत के अनुसार छावनी या सेना–निवेश के लिए ऐसे दुर्ग को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है जहाँ पहुँचना आसान न हो, जो ऊँचे प्रकार और खाइयों से सुरक्षित हो जिसके चारों ओर खुला आकाश हो जिससे कि शत्रुओं का समीप पहुँचना रोका जा सके।[2]

कौटिल्य के अनुसार यदि शत्रु के सामने से आने की संभावना हो तो अपनी सेना का मकर व्यूह, यदि शत्रु पीछे से आये–तो शकट व्यूह, इधर–उधर पार्श्व से आये तो वज्रव्यूह, जो चारो ओर से आक्रमण करें सर्वतोभद् और किसी एक और या संकुचित मार्ग से आये, तो सूचिव्यूह की रचना करनी चाहिए।[3]

मनु के मतानुसार–

दण्डव्यूहेन तन्मार्ग यायात्तु शकटेन वा।
वराहभकराभ्यां वा सूच्या वा गरूडेन वा।[4]

युद्ध मार्ग में राजा दण्डव्यूह, शकटव्यूह, वराहव्यूह, मकरव्यूह, सूचीव्यूह या गरूड व्यूह रचकर आगे बढ़ें तथा जिस दिशा से राजा को भय की आशंका हो, उस और सेना को अधिक तादात में नियोजित करे और स्वयं पद्मव्यूह रचकर रहे।[5]

1. कौ0 10/1
2. महा0/शान्ति पर्व/100,15–18
3. कौ0 10/2
4. मनु0 7/787
5. यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तरयेद्बलम्।
   पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत तदा स्वयम्।। मनु0 7/188

कौटिल्य के अनुसार –

विजेता राजा जब उत्तम सेना से युक्त हो, शत्रु पक्ष के अमात्य आदि को अपनी ओर मिला चुका हो, तो सन्मुख युद्ध के उपस्थित शत्रु से अपनी भूमि में प्रकाश युद्ध करे। यदि सेना ठीक न हो या तोड़–फोड़ न की जा सकी हो तो कूट युद्ध करना चाहिए। विजयाभिलाषी राजा के ज्योतिषी या मुहूर्त देखने वाले पुरुष उत्तम दुर्ग बनवाये इन ज्योतिषियों की सर्वज्ञता और भविष्यज्ञान की प्रसिद्धि से राजा अपने पक्ष को उत्साहित कर दे अर्थात् इन ज्योतिषियों के बताए समय में दुर्ग रचनाएं की गई हैं इससे कभी पराजय नहीं होगी।[1] पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथी के सवारों के युद्ध के समय अपने अनुकूल भूमि का होना अत्यन्त आवश्यक है और इसी तरह सेना के पड़ाव के लिए भी अपनी ही भूमि अधिक उपयोगी होती है। जिस राजा के पास थोड़े घोड़े हों, वह कुछ रथों में जोड़े और अश्वों को सेना के साथ जोड़े तथा जिस राजा के पास हाथी थोड़े हो वह गधे, ऊँट और गाड़ियों से सेना के बीच के भाग की रक्षा करे।[2] सेना के पड़ाव (छावनी) से पांच सौ धनुष की दूरी पर सेना का दुर्ग बनाकर युद्ध करे। मुख्य सेना का विभाग करके शत्रु की आंखों से सेना को बचाकर सेनापति और नायक सेना का व्यूह रचना करे। प्रत्येक पैदल सैनिक को चौदह–चौदह अङ्गुल घुड़सवार को बयालीस अङ्गुल, रथ और हाथियों को सत्तर–सत्तर अङ्गुल की दूरी पर खड़ा करे या जैसी भूमि हो उसी के अनुसार दुगना–तिगुना फासला रख कर भी व्यूह रचना की जा सकती है। जब सुखपूर्वक सेना खड़ी कर दी जाय, तो बाधा रहित होकर वीरता के साथ युद्ध करे।[3] विजयाभिलाषी राजा सम और विषम व्यूहों को अपनी चतुरङ्गिणी सेना की शक्ति के अनुसार बनाये। जब युद्ध होने लगे, तो राजा सेना से दो सौ धनुष पीछे खड़ा रहे। राजा के पीछे खड़े रहने से अपनी भागती हुई सेना खड़ी रह जाती है। राजा को चाहिए कि सेना का सहारा लिए बिना कभी युद्ध न करे।[4]

1. कौ0 10/3
2. वही0 10/4
3. वही0 10/5
4. वही0 10/5

एकादश अधिकरण–संघवृत्त– इस अधिकरण में भेद के प्रयोग और गुपचुप मारने के उपायों का वर्णन किया गया है अर्थात् राजा को किस प्रकार अपने विरोधी योद्धाओं की सामन्तशाही में परस्पर भेद उत्पन्न करके उसके ऐक्य को नष्ट करना चाहिए और इस उद्देश्य में स्त्रियां बहुत ठीक काम कर सकती हैं यह स्पष्ट किया गया है।

सेना और लाभ की अपेक्षा संघ का लाभ सर्वश्रेष्ठ है। जो संघ होते हैं वे संगठित रहते हैं और शत्रु से नहीं दबाये जा सकते हैं। यदि संघ का लाभ हो जाये तो उसका साम दान द्वारा अपने लाभ के लिए प्रयुक्त करे यदि कोई संघ बिगड़ जाये तो उसे भेद और दण्ड द्वारा वश में करे।[1] इन सारे संघों के पास सत्री संज्ञक गुप्तचर रहे, जो इनके दोष, द्वेष, वैर और कलह का पता लगाकर समयानुसार उनमें भेद डलवा दे। यह संघ तुम्हारी इस तरह निन्दा करता था इत्यादि भड़काने वाली बातें करके दोनों ओर भेद की आग भड़का दे। जब इनका परस्पर वैर हो जाये– तो विद्या, शिल्प, धूत और प्रश्नोत्तर के ढंग में आचार्य रूपधारी गुप्तचर उनके बालकों में भी परस्पर वैर करवा दे, वेश्या या सुरापान करने वाले संघो के मुख्य मनुष्यों में उनसे विरुद्ध पुरुषों की प्रशंसा करके तीक्ष्ण पुरुष उनमें कलह करवाये या उनके कृत्य पक्ष को अपनी ओर मिलाकर उनमें फूट डाले।[2]

जब इस प्रकार कलह के ढंग स्वयं बन जाये या तीक्ष्ण पुरुषों द्वारा कलह चल पड़े तो दुर्बल पक्ष को सहायता देकर बिगड़े हुए लोगों से लड़ा दे और यदि वह न लड़े तो अपने यहाँ से भी निकाल दे। विजेता राजा इस ढंग से संघों के मध्य में पूर्ण अधिकार से रहे। संघ के लोग भी इस प्रकार के व्यवहार करने वाले राजाओं के इन जालों से अपनी भलाई के निमित्त रक्षा करते रहें।

---

1. वही0 11/1
2. वही0 11/1

कोटिल्या के मतानुसार–

संङ्घमुख्यश्च सङ्घेषु न्यायवृत्तिहितः प्रियः।
दान्तो युक्तजनस्तिष्ठेत्सर्वचित्तानुवर्तकः।।[1]

संघ का मुख्य पुरुष, अपने संघ में न्यायानुसार प्रिय वृत्ति धारण करे। वह उदार रह कर योग्य पुरुषों के साथ अपना सहयोग रखे और सब साथियों के चित्त को अनुकूल बनाये रहे।

द्वादश अधिकरण–आबलीयस–

अबलीयस अर्थात् शक्तिशाली, आक्रमण के प्रति दुर्बल रहना, व्यवहार में तथा उस सम्बन्ध में किया गया कर्म।[2]

इस अधिकरण में उन उपायों का वर्णन किया गया है जिनके द्वारा एक दुर्बल राजा अपने महत्त्व को बढ़ा सकता है, चारण गूढ़ कार्यकर्ता साहसी–लोग, विष देने वाले तथा स्त्रियाँ ये सब चाहे शत्रु की हत्या द्वारा या भोजन में विष मिलाकर, अन्यथा यात्रा के स्थानों में दीवारों को गिराकर सहायता कर सकते हैं।

कौटिल्य के अनुसार –

सर्वत्रानुप्रणतः कुलैडक इव निराशो जीविते वसति। युध्यमानश्चल्पसैन्यः समुद्रमिवाप्लवोऽवगाहमानः सीदति। तद्विशिष्टं तु राजामाश्रितो दुर्गमषिद्यं वा चेष्टेत।[3]

अर्थात् जब किसी दुर्बल राजा पर कोई बलवान् राजा आक्रमण करे तो दुर्बल राजा हर तरह का अपमान होने पर भी नम्र ही बना रहता है उसका जीवन वैसा ही दूभर हो जाता है, जैसे कि अपने समूह से अलग हुए मेंढे का। इसी प्रकार थोड़ी सेना लेकर जो युद्ध में जाता है उसकी वही स्थिति है। इसलिए दुर्बल राजा को चाहिए कि

1. कौ0 11/1
2. डॉ0 रघुनाथ सिंह/कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्/पृ0सं0 61
3. कौ0 12/1

वह अपने प्रतिद्वंद्वी राजा के सामने या उससे भी अधिक शक्तिशाली किसी दूसरे राजा का आश्रय प्राप्त करे। या ऐसे दुर्ग में जाकर शत्रु का मुकाबला करे, जो कि अभेद्य हो।

दुर्बल राजा पर आक्रमण करने वाला बलवान राजा तीन प्रकार का होता है : धर्म विजयी, लोभविजयी, असुर विजयी,।[1] यदि इन उक्त राजाओं में से कोई राजा दुर्बल राजा पर आक्रमण करे तो संधि, मंत्र–युद्ध अथवा कूट युद्ध के द्वारा उसका मुकाबला करना चाहिए।

यदि कोई बलवान् अभियोक्ता किसी दुर्बल राजा से बलात् धन आदि का अपहरण करे तो वह धन संधि आदि के बहाने उसी को दे देना चाहिए। धन की अपेक्षा अपने प्राणों की अधिक रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि अनित्य धन पर अधिक मोह करना ठीक नहीं है। यदि जीवन रहेगा तो नष्ट हुआ धन फिर से पैदा किया जा सकता है।[2]

कौटिल्य द्वारा दुर्बल राजा को चाहिए कि बलवान शत्रु से अपनी रक्षा के लिए वह मध्यम, उदासीन और अपने समीपस्थ सभी राजाओं को यह सन्देश भेजे कि सर्वस्व देकर मैं आप लोगों के सामने आत्मसमर्पण कर चुका हूँ। मैं आप लोगों के आश्रय से अलग नहीं हो सकता हूँ। अतःयथाशक्ति आप लोगों को मेरी रक्षा करनी चाहिए।[3]

कौटिल्य के अनुसार –

योगवामनयोगाभ्यां योगेनान्यतमेन वा।
अमित्रमतिसन्दध्यात् सक्तमुक्तासु भूमिषु।।[4]

आग लगे हुए घर से भागते हुए राजा को तथा अपनी रक्षा के लिए धान्वन आदि स्थानों में ठहरे हुए, शत्रु को योगवामन और योग के द्वारा या केवल योग के द्वारा वश में किया जाये।

---

1. वही0 12/1
2. यत्प्रसह्य हरेदन्यस्तत्प्रयच्छेदुपायतः
   रक्षेत्स्वदेहं न धनं का ह्योनित्ये धने दया।। वही012/1
3. कौ0 12/3
4. वही0 12/4

देवपूजन या देवयात्रा के ऐसे अनेक अवसर आते हैं, जब कि शत्रु राजा अपनी भक्ति के अनुसार पूजा के लिए वहाँ आता जाता है; ऐसे ही अवसरों पर कूट उपायों द्वारा उसके विनाश के यत्न करने चाहिए।

त्रयोदश अधिकरण–दुर्गलम्भोपाय

इस अधिकरण में बताया गया है कि राजा अपनी सर्वज्ञता और दैवी प्रसाद के लाभ की बात को फैला कर एक दुर्ग–पुर को हस्तगत कर सकता है। चरों से गुप्तरूप में परिज्ञात बातों को कहकर वह सर्वज्ञता की ख्याति प्राप्त कर सकता है और किसी प्रतिभा से जिससे अपना व्यक्ति छिपा हुआ है प्रश्नोत्तर करके वह दैवी प्रसाद–लाभ की ख्याति प्राप्त कर सकता है।[1] अथवा शत्रु राजा को एक तथाकथित तपस्वी के साथ, जो लगभग चार सौ वर्ष की आयु वाला है और अपने जीवन के पुनर्नवीकरण के लिए अग्नि प्रवेश करने को तैयार हैं; वार्तालाप करने के लिए उद्यत करना चाहिए, उस राजा से कहा जाता है कि वह उस आश्चर्य जनक दृश्य को सपरिवार देखे और जब वह इस तरह हो जाता है तो उसका सफाया कर दिया जाता है। शस्त्रों के बल द्वारा दूसरे राष्ट्र पर वास्तविक अधिकार करने की बात भी कही गयी है, जिनमें विजित लोगों के स्नेह और राजभक्ति पाने की आवश्यकता दिखलाई गई है। राजा को उनकी वेष–भूषा और रीतियों को अपनाना चाहिए, उनके धर्म के प्रति आदर प्रदर्शन के साथ–साथ उसमें भाग भी लेना चाहिए, भूमिदान और कर से मुक्त द्वारा उच्च वर्ग की अनुकूलता को आकृष्ट करना चाहिए, और अपने को सर्वथा उत्कृष्टतर दिखाना चाहिए। यह सब इसलिए क्योंकि इन्हीं उपायों द्वारा उसके अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।[2]

कौटिल्य का कहना है –

चरित्रमकृतं धर्म्यं कृतं चान्यैः प्रवर्तयेत्।
प्रवर्तयेन्न चाधर्म्यं कृतं चान्यैर्निवर्तयेत्।।[3]

1. कौ0 13/1
2. कौ0 13/2,3,4,5
3. कौ0 13/5

विजिगीषु राजा को चाहिए कि विजित राज्य में वह उन धर्मयुक्त आचार, व्यवहारों का प्रचलन करे, जिसका अब तक वहाँ अभाव था, तथा जो धर्मप्रवृत्त लोग रहे हों उन्हें प्रोत्साहित करे। अधर्मयुक्त आचार–व्यवहारों को वह कतई न पनपने दे तथा जो लोग अधर्मप्रवृत्त रहे हों उन्हें यत्नपूर्वक रोके।

चतुर्दश अधिकरण– औपनिषदिक

इस अधिकरण में औपनिषदिक[1] अर्थात् रहस्यात्मक विषय का वर्णन हैं– जिसमें हत्या करने, अन्धा करने आदि के योग दिये हुए हैं। यह भी बताया गया कि मनुष्य कैसे अपने को अदृश्य कर सकता है, अन्धकार में देख सकता है, एक मास पर्यन्त उपवास कर सकता है, बिना हानि के अग्नि में चल सकता है, अपने वर्ण को बदल सकता है, मनुष्यों को और पशुओं को सुला सकता है।

कौटिल्य के अनुसार –

चातुर्वर्ण्यरक्षार्थभौपनिषदिकमधर्मिष्ठेषु प्रयुञ्जीत।[2]

विजिगीषु राजा को चाहिए कि चारों वर्णों की रक्षा के लिए वह अधार्मिक व्यक्तियों पर औपनिषदिक प्रयोग करे।

अर्थात् विजिगीषु राजा को चाहिए कि इन आश्चर्यजनक अद्‌भुत तथा अनिष्टकारक उत्पातों से वह अपने शत्रु को अच्छी तरह बेचैन करे। यद्यपि इस प्रकार का व्यापार अनिष्टकारी, और कलंकित कर देने वाला होता है, फिर भी पारस्परिक वैमनस्य बढ़ जाने के कारण, उसको उपयोग में लाना ही पड़ता है। इसलिए यहाँ पर इसका निरूपण किया गया।[3]

---

1. औपनिषदिक–शत्रु पर विजय प्राप्त हेतु रहस्यमय युक्तियाँ
   डॉ0 रघुनाथ सिंह/कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् पृ0सं0 161
2. कौ0 14/1
3. अनिष्टैरद्‌भुतोत्पातैः परस्योद्वेगभाचरेत्।
   आराज्यायेति निर्वादः समानः कोप उच्यते।। कौ0 14/2

कौटिल्य के मतानुसार –

एतैःकृत्वा प्रतीकारं स्वसैन्यानामथात्मनः।
अमित्रेषु प्रयुञ्जीत विषधूमाम्बुदूषणान्।।[1]

विजिगीषु राजा को चाहिए कि उक्त सभी प्रकार की औषधियों द्वारा वह अपनी सेना की तथा अपनी रक्षा करके विषैले धुँए का और विषाक्त पानी का प्रयोग सदा अपने शत्रुओं पर करता रहे।

पञ्चदश अधिकरण–तन्त्रयुक्ति

इस अधिकरण में ग्रन्थ की योजना दी गई है और उसमें सोदाहरण बत्तीस तन्त्रयुक्तियों का वर्णन भी किया गया है जिनका उपयोग अर्थ विचार में किया गया है–

कौटिल्य के अनुसार मनुष्यों की जीविका को अर्थ कहते हैं। मनुष्यों से युक्त भूमि को भी अर्थ कहते हैं। इस प्रकार की भूमि को प्राप्त करने और उनकी रक्षा करने वाले उपायों का निरूपण करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है।[2] वह अर्थशास्त्र बत्तीस प्रकार की युक्तियों से समन्वित है, जिनकी नामावली इस प्रकार है– अधिकरण, विधान, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ, उद्देश्य, निर्देश, उपदेश, अपदेश, अतिदेश, प्रदेश, उपमान, अर्थापत्ति, संक्षय, प्रसंग, विपर्यय, वाक्यशेष, अनुमत, व्याख्यान, निर्वचन, निदर्शन, अपवर्ग, स्वयसंज्ञा, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, एकान्त, अनागतावेक्षण, अतिक्रांतावेक्षण, नियोग, विकल्प, समुच्चय, ऊह्य।[3]

कौटिल्यार्थशास्त्र के टीकाकार रघुनाथ सिंह के अनुसार विज्ञान का प्रकार या पद्धति या व्यवस्था को तन्त्र युक्ति कहते हैं। सुश्रुत संहिता 32 तन्त्रयुक्तियों का वर्णन करता है। चरक संहिता, जोड़कर संख्या 34 कर देता है। कौटिल्य ने सुश्रुत का अनुकरण कर 32 ही माना है।[4]

1. कौ0 14/4
2. वही0 15/1
3. वही0 15/1
4. डॉ0 रघुनाथ सिंह/कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् पृ0 सं0 217

इस प्रकार इस शास्त्र में 32 तन्त्र–युक्तियों का निरूपण किया गया है। इस लोक और परलोक की प्राप्ति तथा रक्षा करने में यही शास्त्र सहायक बताया गया है।[1] यही अर्थशास्त्र धर्म, अर्थ तथा काम में प्रवृत करता है, उनकी रक्षा करता है और अर्थ के विरोधी अधर्मो को नष्ट करता है।[2]

अर्थात् प्राचीन अर्थ–शास्त्रों में बहुत भाष्यकारों के मतभेदों को देखकर स्वयं ही विष्णुगुप्त कौटिल्य ने इस अर्थशास्त्र के सूत्रों और उनके भाष्य का निर्माण किया है।

---

1. कौ0 15/1
2. धर्ममर्थ च कामं च प्रवर्तयति पाति च।
   अधर्मानर्थ विद्वेषानिदं शास्त्रं निहन्ति च।। कौ0 15/1

उपसंहार

अर्थशास्त्र पर उपस्थित प्राचीनतम ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र ही है। बहुत प्राचीन काल में चाणक्य उर्फ कौटिल्य अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ के प्रणेता माने जाते रहे हैं। यह अर्थशास्त्र पन्द्रह अधिकरणों में तथा 180 प्रकरणों में विभक्त है।

यह ग्रन्थ प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन पर प्रकाश डालता है। व्यवहार–विषयक शासन के वर्णन में कौटिलीय के उल्लेख एवं याज्ञवल्क्य में बहुत समानता है। मनु के विचार भी इस विषय में कौटिल्य से मिलते हुये से दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु याज्ञवल्क्य की भाँति नहीं। धर्मस्थीय प्रकरण में जो कुछ आया है, उससे प्रकट होता है कि गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन के धर्मसूत्रों से बहुत आगे की ओर अति प्रगतिशील बातें अर्थशास्त्र में पायी जाती हैं।

समानता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य ने पूर्वाचार्यों की ओर संकेत करके धर्मसूत्रकारों की ही चर्चा की है।

सुखमय मूलं धर्मः। अर्थात् धर्म सुख का मूल है यह बात अर्थशास्त्र के धार्मिक महत्त्व को बताती है अर्थात् जगत का धारण या पालन करने वाली नीतिमत्ता या कर्त्तव्य पालन ही मनुष्य का धर्म है।

कौटिल्य ने इस बात को भी अर्थशास्त्र में समझाने का प्रयत्न किया है कि कोई भी समाज सुधार किये बिना अपनी राजशक्ति को कदापि नहीं सुधार सकता। सर्वप्रथम वह अपने समाज में से अनैतिकता का बहिष्कार करे और उसे बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के आक्रमणों से होने वाली हानि से सुरक्षित रक्खें। क्योंकि व्यक्तियों का हित समाज के हित से पृथक् नहीं है और समाज का भी व्यक्तियों के हितों से पृथक् कोई हित नहीं है।

डॉ0 काणे कौटिलीय अर्थशास्त्र में एक बात को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं दुर्ग के बीच में देवताओं के मन्दिरों की स्थापना की चर्चा जैसे शिव, वैश्रवण, अश्विनौ, लक्ष्मी आदि के मन्दिर।

राजा, राष्ट्र, दुर्ग, कुल्या, बांध, सेना मन्त्री राजकर्मचारी शस्त्रास्त्र, रणपोत, अश्व रथ तथा विविध प्रकार के यान संग्रह तथा प्रजा की रक्षा–शिक्षा भरण पोषण आदि का वर्णन कौटिल्य अर्थशास्त्र में किया गया है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में महत्त्वपूर्ण बात है कि कौटिल्य व्यवहार का प्रारम्भ विवाह से मानते हैं तथा कौटिल्य ने तीसरे अधिकरण में उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों का भी वर्णन किया हैं कि विभिन्न प्रकार के पुत्रों का सम्पत्ति में विभाजन किस प्रकार होता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित उत्तराधिकार स्मृतियों तथा धर्मसूत्रों में वर्णित उत्तराधिकार के समान भी हैं तथा असमान भी।

प्राचीन अर्थशास्त्रों में बहुत भाष्यकारों के मतभेदों को देखकर स्वयं ही विष्णुगुप्त कौटिल्य ने इस अर्थशास्त्र के सूत्रों और उनके भाष्य का निर्माण किया है। अर्थात् स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ अति प्राचीन ग्रन्थ है।